जगदीश प्रसाद मण्डल

श्री जगदीश प्रसाद मण्डल (जन्म 05 जुलाई 1947, गाँव बेरमा, जिला मधुबनी, बिहार) मैथिली साहित्य के एक प्रतिष्ठित और सशक्त हस्ताक्षर हैं। दो विषयों में एम.ए. उपाधि प्राप्त करने के पश्चात उन्होंने कृषि को जीविकोपार्जन का साधन बनाया और सब्ज़ी की खेती अपनाकर ग्रामीण जीवन से जुड़े रहे। समाज में व्याप्त रूढ़िवाद और सामंती प्रवृत्तियों ने उन्हें गहराई से उद्वेलित किया, जिसके विरुद्ध वे संघर्षरत रहे। वे सामाजिक आंदोलनों, गोष्ठियों और संगोष्ठियों में सक्रिय रहे, मुकदमों का सामना किया और जेल यात्राएँ भी कीं। लगभग पैंतीस वर्षों तक समाज सेवा के पश्चात सन् 2000 से उन्होंने साहित्य को अपनी साधना का माध्यम बनाया। साहित्य-सृजन में उनका योगदान उल्लेखनीय है। अब तक वे 135 से अधिक पुस्तकें लिख चुके हैं, जिनमें उपन्यास, कहानी-संग्रह, नाटक, एकांकी, लेख और यात्रा-वृत्तांत जैसी विविध विधाएँ सम्मिलित हैं। उनके लेखन में गाँव-समाज की संवेदनशीलता, मानवीय संबंधों की गरिमा और संघर्षशील जीवन की गहराई झलकती है। उनकी दृष्टि सकारात्मक, स्वभाव सहज और सोच नवीन है, जिसने उन्हें विशिष्ट स्थान दिया है। मण्डल जी को अनेक प्रतिष्ठित पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, टैगोर साहित्य पुरस्कार, अमर शहीद रामफल मण्डल राष्ट्रीय पुरस्कार और यात्री चेतना पुरस्कार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें विदेह सम्मान, कौशिकी साहित्य सम्मान, वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' सम्मान, कौमुदी सम्मान, बाबू साहेब चौधरी सम्मान, वैदेह सम्मान, राजकमल चौधरी साहित्य सम्मान, महाकवि पंडित लालदास साहित्य गौरव सम्मान और मिथिला शिखर सम्मान आदि भी प्राप्त हुए हैं। आज वे मैथिली साहित्य को नई ऊर्जा और दिशा देने वाले अग्रणी रचनाकार हैं और अपनी लेखनी से आने वाली पीढ़ियों के लिए मार्गदर्शक एवं प्रेरणा-स्रोत बने हुए हैं।

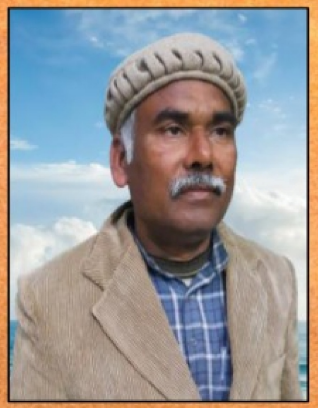

लाल देव कामत

श्री लाल देव कामत का जन्म 2 अप्रैल 1971 को बिहार के मधुबनी ज़िले के घोघरडीहा प्रखंड के नौआबाखर गाँव में हुआ। उनके पिता स्वर्गीय बाबुचन कामत और माता स्वर्गीय अरहल देवी के स्नेहिल संरक्षण में उनका प्रारंभिक जीवन ग्रामीण परिवेश में बीता, जिसने उनके व्यक्तित्व और सामाजिक दृष्टि को गहरे रूप में प्रभावित किया। उन्होंने कला संकाय से स्नातक (सत्र 1988–91) की शिक्षा प्राप्त की।

जीविकोपार्जन के रूप में वे मुख्यतः कृषि, उद्यानिकी तथा गौपालन से जुड़े रहे हैं। सामाजिक सरोकारों के प्रति उनकी गहरी प्रतिबद्धता रही है। वर्ष 1995 तक वे एक सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में कार्यरत रहे। इसके बाद भी उन्होंने समाज में राजनीतिक जागरण और जनचेतना के प्रसार के लिए निरंतर प्रयास किए। साहित्य और समाज के प्रति इसी संवेदनशील दृष्टि ने उन्हें लेखन और साहित्य सेवा से निरंतर सम्बद्ध बनाए रखा।

उनकी प्रमुख प्रकाशित कृतियों में 'स्वच्छता-पदयात्रा' (संस्मरण-संग्रह, 2019), 'विभूति' (प्रेरक विचारों का संकलन, 2020) तथा 'दिव्य दृष्टि' (मैथिली शोध एवं आलोचनात्मक लेखों का संग्रह, 2021) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कृतियों के माध्यम से उनके सामाजिक अनुभव, चिंतनशील दृष्टि और साहित्यिक अभिरुचि का संतुलित परिचय प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सुप्रसिद्ध मैथिली साहित्यकार जगदीश प्रसाद मण्डल के उपन्यास 'ठूठ गाछ' का हिंदी अनुवाद 'शेष जीवन' शीर्षक से प्रस्तुत किया है। यह अनुवाद उनके साहित्यिक अनुराग तथा भाषा के प्रति उनकी संवेदनशील दृष्टि का प्रमाण है। इसके माध्यम से उन्होंने मूल कृति की संवेदना, सामाजिक यथार्थ और विचारभूमि को हिंदी पाठकों तक पहुँचाने का सार्थक प्रयास किया है। इस प्रकार यह कार्य उनके उत्कृष्ट अनुवाद-कौशल और गंभीर साहित्यिक प्रतिबद्धता का सुस्पष्ट परिचायक बनकर सामने आता है।

पल्लवी प्रकाशन
नेहरू मार्ग, तुलसी भवन, निर्मली,
जिला- सुपौल, बिहार: 847452

Rs. 299/-

ISBN: 978-93-48865-06-9

शेष जीवन (मैथिली उपन्यास 'ठूठ गाछ' का हिंदी अनुवाद) लाल देव कामत पल्लवी प्रकाशन

टैगोर लिटरेचर अवॉर्ड एवं साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित लेखक का श्रेष्ठ उपन्यास

शेष जीवन

जगदीश प्रसाद मण्डल

अनुवाद

लाल देव कामत

शेष जीवन

(श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के मैथिली उपन्यास ‘ठूठ गाछ’ का हिंदी अनुवाद)

ठूठ गाछ

मैथिली उपन्यास

जगदीश प्रसाद मण्डल

शेष जीवन

हिंदी अनुवाद

लाल देव कामत

शेष जीवन

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद

लाल देव कामत

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

SHESH JEEVAN

Hindi Translation of the Maithili Novel Tooth Gachh
Original Author: Shri Jagdish Prasad Mandal
Hindi Translation: Shri Lal Deo Kamat

SHESH JEEVAN is a quiet and thoughtful novel that examines life after formal work, authority, and public recognition have ended. Centered on Ramkrishna Babu, a retired teacher, the narrative explores the mental and emotional landscape of a man who must redefine dignity and purpose once routine and institutional identity fall away.

Rather than focusing on events, the novel advances through reflection, memory, and dialogue. Domestic life becomes the primary stage of meaning, where long marriage reveals its layered realities of care, fatigue, restraint, and mutual dependence. The conversations between husband and wife expose tensions that are neither dramatic nor resolved, yet deeply human.

A key dimension of the novel is its emphasis on intellectual continuity. Reading, contemplation, and translation offer Ramkrishna Babu a renewed sense of responsibility. Work is no longer measured by salary or status, but by ethical engagement and inner discipline. The novel quietly challenges the belief that social usefulness ends with retirement.

Rejecting sentimentality, **SHESH JEEVAN** presents aging as a condition of uncertainty, adjustment, and endurance. It affirms that the later phase of life can still carry meaning, not through achievement, but through attentiveness, moral clarity, and sustained inner effort.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District- Supaul, Bihar: 847452

First Edition: 2026
ISBN: 978-93-48865-06-9
Price: 299/-
Copyright: © Publisher

Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typography: Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452

Website: http://pallavipublication.blogspot.com
E-mail: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font source: https://fonts.google.com

All rights to this book are reserved. No part of this book may be reproduced, distributed, transmitted, adapted, paraphrased, or generated in any form or by any means, including electronic, mechanical, digital, or artificial intelligence systems, without the prior written permission of the copyright holder or the publisher.

समर्पण

जीवन की केवल दो ही धुरी होती हैं: सुख और दुख। इन्हीं दो धुरियों पर यह संसार अपनी समस्त हलचल, स्थिरता, गति, उड़ान, सौंदर्य और सुगंध के साथ निरंतर घूमता रहता है, नृत्य करता है, उड़ता है, महकता है और दूसरों को भी महकाता है।

जैसे एक ओर हैं बेली, चमेली और जूही, जो धरती से जुड़ी होती हैं। ये अपने पत्तों की पवित्रता और फूलों की सादगी के साथ जीवन का आरंभ और अंत करती हैं, और अपनी सुगंध से आकाश को महकाकर अपनी जीवन-लीला को पूर्णता देती हैं।

दूसरी ओर हैं वे पुष्प, जो अपने रंग-बिरंगे फूलों को आकाश में फैलाकर एक दिशा से दूसरी दिशा में उड़ते रहते हैं। वे अपने रंग-रूप का प्रदर्शन तो करते हैं, पर उनमें कैसी सुगंध है, यह तो बेली, चमेली या जूही से पूछा जा सकता है, या न भी पूछा जाए, लेकिन देखने वाले की यह ज़िम्मेदारी तो बनती ही है।

संदेश

अतिशय प्रसन्नता की बात है कि 'ठूठ गाछ' मैथिली उपन्यास की हिंदी भाषा में अनुवाद कार्य किया गया है। हमारे शिष्य रहे भाषान्तर कर्त्ता लेखक लाल देव कामत " शेष जीवन" नाम से इस अनोखा पुस्तक को पल्लवी प्रकाशन निर्मली से छपाने की योजना बनाया है। प्रस्तुत पुस्तक की जीवन्तता हेतु नायक-प्रो० रामकृष्ण बाबू के इर्द-गिर्द पात्र सुभद्रा, सिनुरिया, अच्छेलाल, फोचाई दास और राधाचरण को हू ब हू दिखाया गया है,जो मूल दीर्घ कथा की आत्मा है। कथानक कमला-कोसी अंचल की सोंधी महक के साथ एक व्यक्ति की लालसा है। मुख्य पात्र की भूमिका जहां चाह , वहां राह की तरह पूर्ण होती दिखती है।

अस्तु , सामाजिक उपन्यास के सृजनकर्ता श्री जगदीश प्रसाद मण्डल जी की संस्तुति से श्री कामत जी ने एक और सराहनीय कार्य करने में दक्ष हुआ है । मैं हृदय तल की गहराईयों से सफल जीवन की कामना करता हुँ।

भवदीय

राजेन्द्र कुमार, पूर्व प्रधानाध्यापक
+२ जवाहर उँच्चतर माध्यमिक विद्यालय, मधेपुर
चलभाष सं० ९६६११९०४८२ (बिहार)

प्रस्तावना

शेष जीवन : अनुभव, उत्तरदायित्व और अर्थ की खोज

'शेष जीवन' किसी असाधारण नायक की कथा नहीं है। यह एक साधारण व्यक्ति की कहानी है, जिसने अपना अधिकांश जीवन दायित्व निभाते हुए बिताया है। अब जीवन के उत्तरार्ध में खड़ा होकर वह यह सोचने लगता है कि जो समय बचा है, उसका वास्तविक अर्थ क्या है।

यह उपन्यास जीवन को किसी उपलब्धि या उत्कर्ष की दौड़ के रूप में नहीं देखता। वह जीवन को ठहराव, थकान, आत्ममंथन और नए अर्थ की तलाश की प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करता है।

उपन्यास की शुरुआत साँझ के गहराते अंधकार और एक ठूँठ वृक्ष के दृश्य से होती है। यह दृश्य केवल वातावरण रचने तक सीमित नहीं रहता, वह पूरी कृति का केंद्रीय प्रतीक बन जाता है। ठूँठ वृक्ष जीवित है, पर निष्क्रिय है। वह समय का मूक साक्षी है, जिसने बहुत कुछ देखा है, पर अब कुछ कर पाने की स्थिति में नहीं है। यही प्रतीक वृद्ध रामकृष्ण बाबू के जीवन से गहराई से जुड़ता है। उनका शरीर अब भी सक्रिय है, चेतना सजग बनी हुई है, फिर भी वे जीवन की मुख्य धाराओं से धीरे-धीरे अलग होते जा रहे हैं। यहाँ ठूँठ वृक्ष मृत्यु का संकेत नहीं देता, वह उस जीवन की ओर इशारा करता है जो अब भी शेष है।

रामकृष्ण बाबू का जीवन 1925 से आरंभ होकर स्वतंत्रता आंदोलन, जमींदारी व्यवस्था, भूमि संघर्ष और स्वतंत्र भारत की सामाजिक विडंबनाओं के बीच आकार लेता है। उपन्यासकार उनके व्यक्तिगत जीवन को इतिहास की व्यापक धारा में रखकर देखता है। परिणामस्वरूप यह कथा केवल एक व्यक्ति की कहानी नहीं रह जाती, वह ग्रामीण भारत की सामूहिक यात्रा का रूप ग्रहण कर लेती है।

भारत को किसान और गाँव-आधारित समाज के रूप में चित्रित करते हुए

लेखक यह स्थापित करता है कि गाँवों की उपेक्षा राष्ट्र को भीतर से खोखला कर देती है। भूमि और जमींदारी केवल राजनीतिक ढाँचों की समस्या नहीं हैं, वे मानवीय विघटन की संरचनाएँ भी हैं।

रामकृष्ण का जन्म जमींदार परिवार से जुड़े परिवेश में होता है, परंतु पारिवारिक विघटन बहुत शीघ्र सामने आ जाता है। भाइयों का बँटवारा, संपत्ति का क्षरण और पिता की मृत्यु उन्हें समय से पहले जिम्मेदार बना देती है। पूरे परिवार का भार उनके कंधों पर आ जाता है। यहीं उपन्यास संयुक्त परिवार से एकाकी उत्तरदायित्व की ओर संक्रमण को गहराई से दर्ज करता है।

रामकृष्ण न तो विद्रोह करते हैं, न ही परिस्थिति से भागते हैं। वे चुपचाप दायित्व उठाते हैं- यही उनका संघर्ष है, और यही उनकी नैतिकता।

शिक्षा रामकृष्ण के लिए आत्मविकास का साधन भी है और पारिवारिक जिम्मेदारियाँ निभाने का माध्यम भी। परंतु उपन्यास यह स्पष्ट करता है कि शिक्षा अपने आप में मुक्ति नहीं है। यदि सामाजिक संरचना असंतुलित हो, तो शिक्षित व्यक्ति भी बँध जाता है।

खेती होते हुए भी रामकृष्ण की उससे दूरी बदलते सामाजिक मानस की ओर संकेत करती है, जहाँ शिक्षा और कृषि के बीच की खाई लगातार बढ़ रही है। यह दूरी केवल पेशे की नहीं, दृष्टिकोण की भी है।

कोसी क्षेत्र में शिक्षक बनकर रामकृष्ण सीमित आय, जोखिम और त्याग का जीवन स्वीकार करते हैं। उन्हें किसी महापुरुष के रूप में चित्रित नहीं किया गया है। वे ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ हैं, परंतु साधारण मनुष्य हैं। विधवा माँ उनके जीवन की नैतिक धुरी बनती हैं।

भूख और संकल्प के बीच का द्वंद्व उपन्यास के सबसे मार्मिक बिंदुओं में से एक है। भूख सहना और संकल्प निभाना एक जैसे नहीं हैं, और लेखक इस अंतर को गहरी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करता है।

रामकृष्ण का आत्मसंवाद जीवन की विविधता, दिशाहीनता और भीतर चल रही खोज को उजागर करता है। यहाँ जीवन किसी संघर्ष के उद्घोष के रूप में नहीं उभरता, वह उत्तरदायित्व के मौन स्वीकार की तरह सामने आता है। धर्म

और कर्म किसी उपदेश के रूप में उपस्थित नहीं हैं, वे रोज़मर्रा के श्रम, ईमानदारी और आत्मसंयम में ही अपना अर्थ पाते हैं।

आरंभिक चरणों में ही उपन्यासकार यह स्पष्ट कर देते हैं कि यह कथा नायकत्व की नहीं, टिकाऊपन की है; उत्कर्ष की नहीं, स्थायित्व की है। जीवन को यहाँ जड़ों की परीक्षा की तरह देखा गया है।

दूसरे पड़ाव में रामकृष्ण के भीतर की सबसे बड़ी लड़ाई स्पष्ट होती है। एम.ए. करने की इच्छा वर्षों से मौजूद रहती है, पर उसे व्यवहार में उतारने का साहस देर से विकसित होता है। वे साहित्य और अर्थशास्त्र के बीच लगातार असमंजस में रहते हैं। समय आगे बढ़ता रहता है और निर्णय बार-बार टलते जाते हैं। अंततः उन्हें यह बोध होता है कि लक्ष्य केवल इच्छा से नहीं, अनुशासन और समय के सही उपयोग से पूरे होते हैं। संकल्प बनता है, तभी माँ और छोटे भाई-बहनों की ज़िम्मेदारी सामने आ खड़ी होती है। आत्मविकास और पारिवारिक उत्तरदायित्व के बीच का यही द्वंद्व उनके पूरे जीवन की दिशा तय करता है।

तीसरे पड़ाव में उपलब्धियाँ मिलती हैं, परंतु उनके साथ नई उलझनें भी आती हैं। एम.ए. की पढ़ाई पूरी हो चुकी है, सामाजिक पहचान बदल रही है, सम्मान बढ़ रहा है, पर जीवन सहज नहीं बनता। स्वतंत्रता के बाद का सामाजिक परिदृश्य, संस्थानों का निर्माण और गाँवों की स्थिरता, ये सभी एक साथ सामने आते हैं। रामकृष्ण कॉलेज में पढ़ाने की आकांक्षा और आर्थिक सीमाओं के बीच जूझते रहते हैं। पंडौल कॉलेज में नियुक्ति उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण मोड़ है, पर यह भी कोई पूर्ण समाधान नहीं। लेखक यह दिखाता है कि व्यक्तिगत यात्रा शिक्षा-तंत्र, अवसरों की असमानता और राष्ट्रीय यथार्थ से गहराई से जुड़ी होती है।

चौथे पड़ाव में प्रोफेसर जीवन की स्थिरता आती है। वेतन बढ़ता है, सम्मान मिलता है, अध्ययन और पुस्तकालय का संसार खुलता है। लेकिन इसके साथ-साथ सामाजिक कटाव भी बढ़ता है। रामकृष्ण धीरे-धीरे गाँव के सार्वजनिक जीवन से दूर होते जाते हैं। उनका संसार पुस्तकों तक सिमटने लगता है। यहाँ उपन्यास एक मौन प्रश्न उठाता है- समाज से कटे विद्वान की सामाजिक भूमिका क्या रह जाती है?

पाँचवें पड़ाव में साहित्यिक साधना उभरकर सामने आती है। कविता, गीत, डायरी और संगीत रामकृष्ण के भीतर प्रवाहित होते हैं। वे अपना संग्रह प्रकाशित करते हैं और उसे अपने जीवन की उपलब्धि मानते हैं। परंतु समाज की प्रतिक्रिया उनकी अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं होती। पुस्तकें नहीं बिकतीं, सराहना नहीं मिलती। यह क्षण अत्यंत मार्मिक है। लेखक स्पष्ट करता है कि रचना एक निजी साधना है, पर उसका टूटना सामाजिक उपेक्षा से भी जुड़ा होता है। यहीं से रामकृष्ण समीक्षा और अनुवाद की ओर प्रवृत्त होते हैं। ठूँठ बनना केवल उम्र का परिणाम नहीं है, यह सामाजिक निराशा का भी परिणाम है।

छठा पड़ाव उपन्यास का सांस्कृतिक विस्तार है। गाँव का मंच, साहित्यिक कार्यक्रम, और विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों की उपस्थिति गाँव के बौद्धिक जीवन को नई ऊर्जा प्रदान करती है। धीरेन्द्र और रामकृष्ण के बीच वर्षों पुरानी दूरी संवाद में बदल जाती है। यह खंड दर्शाता है कि संबंधों की गहराई समय से नहीं, संवाद से बनती है।

सातवें पड़ाव में सेवा-निवृत्ति आती है। यह केवल नौकरी का अंत नहीं है, यह पहचान का संकट भी है। पेंशन है, घर है, पर काम नहीं है। रामकृष्ण के भीतर यह प्रश्न उठता है कि बिना श्रम के मान और अर्थ कैसे टिकेगा। सुभद्रा के साथ उनका दांपत्य तनाव इसी रिक्तता से उभरता है। यह खंड घरेलू जीवन के सूक्ष्म मनोविज्ञान को बिना किसी नाटकीयता के अत्यंत संवेदनशीलता से प्रस्तुत करता है।

आठवाँ पड़ाव शेष जीवन की दिशा स्पष्ट करता है। तीन बेटे, तीन अलग-अलग संसार और धीरे-धीरे बिखरता पारिवारिक ढाँचा सामने आता है। सुभद्रा का व्यावहारिक विवेक और स्वाभिमान कथा को संतुलन देते हैं। अंत में सृजन का विचार निर्णायक रूप लेता है। गीता के अनुवाद की योजना किसी एक कार्य तक सीमित नहीं रहती, वह खोए हुए अर्थ की पुनःप्राप्ति का माध्यम बनती है। 'कर्म करो' यहाँ किसी उपदेश की तरह नहीं आता, वह जीवन को समझने और जीने की दृष्टि बन जाता है।

'शेष जीवन' यह बताता है कि जीवन का अंतिम चरण भी अर्थहीन नहीं होता। यदि चेतना जाग्रत हो, तो शेष जीवन भी सृजन का अवसर बन सकता है।

रामकृष्ण बाबू ठूँठ गाछ की तरह हैं, परंतु उनकी जड़ें अब भी जीवित हैं। वही जड़ें उन्हें जीवन से जोड़े रखती हैं।

यह उपन्यास कोई आसान निष्कर्ष नहीं देता। यह जीवन के उन प्रश्नों को सामने रखता है जो अक्सर अनकहे रह जाते हैं। 'शेष जीवन' हमें यह सोचने के लिए विवश करता है कि जो बचा है, वही शायद सबसे मूल्यवान है।

इस उपन्यास का हिंदी अनुवाद करते समय मेरा उद्देश्य केवल भाषा का रूपांतरण करना नहीं था। प्रयास यह रहा कि उस जीवन-संवेदना को सुरक्षित रखा जाए, जो मूल मैथिली पाठ की आत्मा है। 'शेष जीवन' की कथा किसी असाधारण व्यक्ति की नहीं है। यह उस साधारण मनुष्य की कहानी है, जिसके जीवन में संघर्ष, दायित्व, संकोच और संकल्प साथ-साथ चलते हैं। अनुवाद की प्रक्रिया में यह ध्यान रखना आवश्यक था कि ग्रामीण जीवन की लय, संवादों की सहजता और पात्रों की आंतरिक गति हिंदी में भी उसी तरह बनी रहे, जैसे वह मूल पाठ में उपस्थित है।

रामकृष्ण बाबू का जीवन जिस ठहराव और आत्ममंथन से गुजरता है, वही इस कृति का मर्म है। इसे अनुवाद में बनाए रखना आसान नहीं था, क्योंकि यहाँ भाषा से अधिक जीवन-स्थितियाँ बोलती हैं। प्रयास यही रहा है कि शब्दों के बीच की चुप्पियाँ, संकोच और आत्मसंवाद हिंदी पाठक तक उसी प्रभाव के साथ पहुँच सकें।

यदि यह अनुवाद पाठक को अपने जीवन के शेष समय पर ठहरकर सोचने के लिए प्रेरित करता है, तो मैं अपने श्रम को सार्थक मानूँगा।

- लाल देव कामत

नौआबाखर

12 जनवरी 2026

1

साँझ की गहराती कालिमा अब अंधेरे में ढलने लगी थी। जैसे-जैसे यह कालिमा और गहराती गई, दिन का उजाला फीका पड़ता गया। सड़क से लगभग पचास बीघा भीतर बाध में एक पेड़ खड़ा था। दिन में उस पेड़ की सभी डालियाँ और शाखाएँ राहगीरों को स्पष्ट दिखाई देती थीं, लेकिन साँझ ढलते ही उसका स्वरूप बदलने लगता।

प्रारंभिक साँझ में लगता मानो उसकी सारी पत्तियाँ किसी आँगन की चटाई-सी फैली हों, पर जैसे-जैसे अंधकार गहराता, पत्तों का कोई चिन्ह शेष नहीं रह जाता। धीरे-धीरे उसकी शाखाएँ भी धुंधली होकर ठूंठ-सी प्रतीत होतीं और फिर ओझल हो जातीं।

झंझारपुर से धीरेन्द्र लौट रहे थे। रास्ते से थोड़ा हटकर प्रोफेसर रामकृष्ण बाबू का घर था। जैसे ही उनकी नजर घर पीछे की ओर गई, उनका ध्यान रामकृष्ण बाबू पर गया, जो आज एक ठूंठ-से प्रतीत हो रहे थे।

सन 1925 में उनका जन्म एक प्रतिष्ठित ज़मींदार परिवार में हुआ था, जो कभी राजघराने से जुड़ा रहा था। जब देश में अंग्रेज़ी हुकूमत के विरुद्ध आज़ादी की लड़ाई जन आंदोलन का रूप लेने लगी, तब गाँव और किसान-प्रधान भारत की आत्मा भी उसमें सम्मिलित हो गई। भारत की मूल पूँजी कृषि पर ही यह देश टिका था।

लेकिन सदियों की गुलामी ने गाँव और उसकी अर्थव्यवस्था को लगातार पीछे धकेला। परिणामस्वरूप ग्रामीण जीवन की संरचना इस कदर

टूटने लगी कि उसका मूल स्वरूप तक विस्मृत होता चला गया।

प्रगतिशील विचारधारा से जुड़ी सभी शक्तियाँ अब धरातल पर उतर आई थीं। उन्होंने यह सच्चाई स्वीकार कर ली थी कि भारत की आत्मा गाँवों में बसती है। अतः जब तक गाँवों का विकास नहीं होगा, तब तक देश का समग्र विकास असम्भव है।

किन्तु गाँव केवल रजवाड़ों और ज़मींदारों के शिकंजे में नहीं था, बल्कि सामाजिक रूढ़ियों के मकड़जाल में भी बुरी तरह उलझा हुआ था। जब तक यह जंजाल नहीं टूटेगा, तब तक गाँवों का पुनर्गठन सम्भव नहीं।

जब भूमि संबंधी प्रश्न उठे, तो रजवाड़ों और ज़मींदारों में हड़कंप मच गया। ज़मीन और जमींदारी की ख़रीद-फ़रोख़्त और ऋण के सहारे किसी की जमींदारी बढ़ गई, तो किसी की घट गई।

हालाँकि गाँव-गाँव की स्थिति इतनी दयनीय हो चुकी थी कि लोगों को उपवास रखने के लिए अब किसी पर्व या तिथि का इंतज़ार नहीं करना पड़ता था।

यदि कोई गाँव हज़ार घरों का होता, तो उनमें से नौ सौ से अधिक परिवारों के पास अपना घर-दुआर तक नहीं होता। लोग रहते तो कहीं थे, लेकिन बेघर ही कहलाते थे। कुछ दिन पूर्व ही 'किराया-मुक्त आवासीय भूमि' घोषित कर दी गई थी, किंतु हज़ारों वर्षों की गुलामी झेल चुके इन लोगों में इतनी चेतना शेष नहीं थी कि वे इस परिवर्तन का लाभ उठा पाते। लोगों का पुश्तैनी घर कहीं था, पर पेट की आग ने उसे दूसरी जगह जाकर बसने पर विवश कर दिया, जहाँ भी वह बेघर ही बना रहा।

जब राष्ट्रीय अधिवेशनों में आज़ादी की मुखर आवाज़ें उठने लगीं, तो रजवाड़ों और ज़मींदारों के भीतर भय की लहर दौड़ गई। वे अपने खेत-खलिहानों की चारों ओर फैली ज़मीन को समेटने में जुट गए। वैसे भी, भिन्न-भिन्न लोगों के आचार-व्यवहार में भिन्नता होती है, जो स्वाभाविक है। बौद्धिक स्तर के अनुसार विचार और कर्म का स्वरूप भी अलग-अलग होता है।

प्रोफेसर रामकृष्ण बाबू अपने चार भाइयों में सबसे बड़े थे, इसलिए उन्हें माता-पिता का स्नेह और भाइयों का आदर समान रूप से प्राप्त था। जैसे किसी सुसंपन्न परिवार में गुण और धर्म विरासत में मिलते हैं, वैसे ही उनके परिवार में भी इन विशेषताओं की भरमार थी।

आगंतुकों का स्वागत-सत्कार, गीत-संगीत का अभ्यास, और साहित्यिक चर्चाओं से उनका घर एक जीवंत मंच-सा प्रतीत होता था। ऐसे संस्कारयुक्त परिवेश में शिक्षा भी अन्य कार्यों की भाँति एक नैतिक कर्तव्य मानी जाती थी। अतः जैसे ही रामकृष्ण स्कूल जाने योग्य हुए, उन्होंने शिक्षा की राह पकड़ ली। गाँव के प्राथमिक विद्यालय से लेकर हाई स्कूल तक की उनकी यात्रा बिना किसी विघ्न के सम्पन्न हुई। बचपन से ही उनके शैक्षिक परिणाम उत्तम रहे और यह क्रम मैट्रिक तक बना रहा।

1940 के बाद, जब आज़ादी की लहर तेज़ होने लगी, देशभर में उथल-पुथल का माहौल बनने लगा। ठीक वैसी ही उथल-पुथल रामकृष्ण के परिवार में भी उत्पन्न हो गई। चारों भाइयों के बीच संपत्ति का बँटवारा हुआ, और युगों से संगठित संयुक्त परिवार एक ही झटके में बिखरने लगा। साथ ही, खेतों की बिक्री भी तेज़ी से बढ़ने लगी।

हालाँकि पारिवारिक रिश्ते, कुटुम्बी संबंध, और सामाजिक अपेक्षाएँ पहले जैसी ही बनी रहीं, लेकिन आमदनी में साफ़ गिरावट देखी जाने लगी। कुछ समय बाद, जब रामकृष्ण कॉलेज में दाख़िला ले चुके थे और एक वर्ष ही बीता था कि उनके पिता का निधन हो गया। वे भाइयों-बहनों में सबसे बड़े थे, अतः पूरे परिवार की ज़िम्मेदारी उनके कंधों पर आ गई। पाँचों छोटे भाई-बहनों की पढ़ाई-लिखाई और विधवा माँ की देखरेख की ज़िम्मेदारी भी उन्हें ही निभानी पड़ी। किसी तरह उन्होंने आई.ए. की परीक्षा पास की।

हालाँकि उनके पास खेत-पथार थे, लेकिन न तो उन्हें खेती का ज्ञान था और न ही उसमें रुचि। वैसे भी, एक अच्छे छात्र के मन में यह स्वाभाविक आकांक्षा रहती है कि वह शिक्षक बने और शिक्षा के माध्यम से जीवन-यापन करे। लेकिन शिक्षक बनने के लिए स्कूल या कॉलेज में पद रिक्त होना चाहिए, और ऐसी स्थिति दुर्लभ ही होती है- जैसे किसी गिनी-चुनी कुटिया

या मापे गए जोहड़ में स्थान मिलना।

फिर भी, हर क्षेत्र की अपनी परिस्थितियाँ होती हैं- कहीं कोसी की उग्रता है, तो कहीं 'भुतही कमला' की मार। सौभाग्य से रामकृष्ण का गाँव कोसी की उपद्रविता से सुरक्षित था। अंततः अपने गाँव से दूर, कोसी क्षेत्र के एक हाई स्कूल में शिक्षक बनकर उन्होंने अपने जीवन की नई शुरुआत की।

हाई स्कूल के शिक्षकों को ऐसा वेतन नहीं मिलता था जिससे परिवार को ऊँचे स्तर पर रखा जा सके। फिर भी यह अवश्य हुआ कि बिखरता हुआ परिवार एक सीमा तक सिमटकर टिक सका- और यह बात रामकृष्ण ने भली-भाँति समझ ली थी। उन्होंने आय के अनुसार परिवार संचालन की योजना बनाई।

बाहर रहना पड़ता था, तो बाहरी खर्च स्वाभाविक था, लेकिन गाँव के परिवार की ज़िम्मेदारी तो बनी ही रहती। रामकृष्ण, श्रवण कुमार की भाँति एक आज्ञाकारी पुत्र बनकर इस भार को अपने कंधों पर उठाते हैं। रेलवे की सुविधा के कारण वे चार–पाँच घंटे में गाँव पहुँच सकते थे, अतः हर सप्ताह शनिवार–रविवार को स्कूल और गाँव के बीच आना-जाना करते रहते।

हालाँकि शिक्षा-व्यवस्था समय के साथ बदलती है, यह देखना आवश्यक होता है कि उस बदलाव की दिशा क्या है और वह किसके हित में है। जिस युग में रामकृष्ण जन्मे और पले-बढ़े, वह अपेक्षाकृत स्थिर और संतुलित था। तब की शिक्षा-पद्धति में वह विकृति नहीं थी, जो आज दृष्टिगोचर होती है।

ग्रामीण परिवेश में चाय-पान का चलन भी आज जितना सामान्य नहीं था। यद्यपि मिथिलांचल में पान की परंपरा अत्यंत पुरानी है, फिर भी वह आमजन में केवल विशेष आयोजनों या उत्सवों तक ही सीमित थी। आधुनिक वैज्ञानिक युग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि पान का सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व क्या है। रामकृष्ण जिस परिवार से आते

थे, वहाँ पान सहित अनेक पारंपरिक रीतियों का प्रचलन था।

परंतु परिवार से बाहर रहने के कारण उन्हें अपने जीवन को नए सांचे में ढालने का अवसर भी मिला। मौके को अवसर में बदलते हुए, रामकृष्ण ने अपनी ज़िंदगी को अपने ढंग से गढ़ना शुरू किया। वैसे भी, छोटे भाइयों और बहनों के बीच आज भी गाँव और परिवार में यह सोच प्रचलित है कि माता-पिता की अनुपस्थिति में भी आपसी रिश्तों और सामाजिक संबंधों में एक न्यूनतम संतुलन बना रहता है, भले वह गहरा न हो, पर पूरी तरह टूटता भी नहीं।

साथ ही, विधवा माँ का सात्त्विक जीवन संपूर्ण परिवार को नैतिकता और अनुशासन की ओर प्रेरित करता रहा। भूखा रहना और किसी व्रत या संकल्प के लिए त्याग सहना, दोनों ही स्थितियों में सहनशीलता होती है, किंतु दोनों में अंतर भी होता है। एक सहना तृप्ति के साथ होता है जबकि दूसरा जलते हुए। यही अंतर जीवन और विनाश के बीच की रेखा खींचता है। तृप्ति से पाचन होता है और ज्वलन से विनाश, ऐसा विनाश जो केवल मांस को नहीं, बल्कि अस्थियों तक को सुखा देता है।

अन्य मनुष्यों की भाँति रामकृष्ण के जीवन और उसकी दुनिया के बीच भी एक बिंदु पर आकर टकराव हुआ। विचारों की धार और अपने विवेक के सहारे उन्होंने स्वयं को उस टूटे-फूटे जाल की तरह महसूस किया जिसकी एक छोर उन्होंने कसकर थाम रखी थी।

दुनिया विविधतापूर्ण है। कहीं बालू बिखरी है, तो कहीं सोना। कहीं पत्थर बिछे हैं, तो कहीं जंगल-झाड़। कहीं पानी फैला है, तो कहीं मिट्टी।

मिट्टी भी मिट्टी ही होती है। कहीं ऊसर, तो कहीं इतनी उपजाऊ कि केशौर और केसैर जैसी फसलें भी उग आएँ।

इस अथाह संसार की थाह पाना असंभव नहीं, लेकिन कठिन अवश्य है। दसों दिशाओं में बँटी यह दुनिया इतनी विविधताओं से भरी हुई है कि यदि किसी एक दिशा में कदम बढ़ाएँ, तो किसी कोने में उलझ सकते हैं। उस उलझन से निकलकर किस दिशा में मुड़ना चाहिए, इसका अनुमान

लगाना भी उतना ही कठिन होता है।

जैसे अगम जल में उतरने वाले भी कई प्रकार के होते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो पानी की सतह को ही अगम समझ लेते हैं, जहाँ डूबने का केवल भ्रम होता है। यदि कोई वास्तव में डूब जाए और साँस का मार्ग बंद हो जाए, तो कभी-कभी व्यक्ति स्वयं हवा बनकर उड़ जाता है।

पर यह भी सत्य है कि हर डूबने वाला मरता नहीं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो समुद्र-सरीखे अगम जल में उतरते हैं, जहाँ ज़मीन की कोई थाह नहीं होती, फिर भी वे डूबकर भी बच निकलते हैं।

इस विविध और जटिल दुनिया के बीच खड़े रामकृष्ण ने अपनी दुनिया की ओर नज़र दौड़ाई। उनकी दुनिया वही थी, जिसमें वे अब तक रहते आए थे। उसमें भी दसों दिशाएँ थीं और सैकड़ों कोने-काँटे। जब उन्होंने अपने जीवन की गहराई को पहचाना, तो उनके भीतर संतोष और आत्मबोध जाग्रत हुआ। उन्हें यह बोध हुआ कि मनुष्य, चाहे कारखानों की आग और धुएँ से भरी चिमनियों के पास जीवन बिताए या साइबेरिया के बर्फीले मैदानों में काई और लीचेन के नीचे, वह हर परिस्थिति में अंततः मनुष्य ही रहता है। हम भी उसी जीवन की एक कड़ी हैं।

अपने जीवन को केंद्र में रखकर, रामकृष्ण ने उस रूप को गहराई से रूपांतरित कर दिया। और जैसे ही उन्होंने ऐसा किया, उनके भीतर एक गहरी चेतना जागी कि जीवन में सब कुछ स्वयं करना पड़ेगा। इसी में धर्म और कर्म दोनों निहित हैं। यदि शरीर और हाथ सक्रिय नहीं होंगे, यदि उपार्जन नहीं करेंगे, तो न परिवार चलेगा, न बच्चों की पढ़ाई हो पाएगी। अपने जीवन के लिए मनुष्य को स्वयं निर्माण करना होता है, हमें भी करना होगा।

दोहरे संकल्प के साथ रामकृष्ण ने शिक्षक के रूप में अपने जीवन की शुरुआत की। पहला संकल्प था कि वे स्वयं प्रोफेसर बनेंगे, और दूसरा यह कि वे छोटे भाइयों-बहनों की देखरेख कम से कम उस स्तर तक करेंगे, जितनी पिता के समय होती थी। क्योंकि जितना आगे बढ़ाया जाएगा, वही हमारा सृजन होगा।

वैसे आर्थिक दृष्टि से पिता और पुत्र की ज़िंदगियों में आकाश-पाताल का अंतर आ गया था। पिता का जीवन मध्यमवर्गीय ज़मींदार का था, जबकि रामकृष्ण का जीवन एक साधारण शिक्षक का।

रामकृष्ण ने अपने संकल्प को खंडित करते हुए, अर्थात उसे छोटे-छोटे भागों में बाँटते हुए, अनुभव किया कि उनका मन अस्थिर हो रहा है। उन्हें यह भी लगा कि जैसे उनके पिता ने उन्हें पढ़ाया, वैसे ही अब उनके छोटे भाइयों की पढ़ाई भी उनकी ज़िम्मेदारी बनती है।

हालाँकि इस स्थिति में अलग-अलग प्रकार के विचार आना स्वाभाविक था। यदि कोई भाई पढ़ना ही नहीं चाहता, तो वह परिवार और समाज के बीच एक प्रकार का प्रायश्चित करेगा। लेकिन यदि कोई पढ़ने की इच्छा रखता है, तो उसकी सहायता करना केवल दायित्व नहीं, बल्कि कर्तव्य भी बन जाता है।

यहीं आकर रामकृष्ण के विचार स्थिर हो गए।

कुछ क्षण रुकने के बाद रामकृष्ण की नज़र स्वयं पर पड़ी। उन्होंने अनुभव किया कि परिवार के खर्च में केवल भोजन, वस्त्र और आवास ही नहीं आते, बल्कि पढ़ाई-लिखाई और समय-समय पर दवा-दारू की आवश्यकता भी होती है। विद्यालय के साथ-साथ ट्यूशन करके आमदनी तो बढ़ाई जा सकती है, लेकिन यदि आमदनी बढ़ेगी, तो समय की हानि निश्चित है। और जब समय ही नहीं बचेगा, तो आगे कैसे बढ़ा जा सकेगा?

पढ़ाई-लिखाई कोई बाल-मनोरंजन का खेल नहीं है, यह जीवन की एक साधना है। जिसे साधे बिना जीवन को सही दिशा देना कठिन होता है। वैसे भी, साधना के अनेक रंग होते हैं, परंतु सभी आवश्यक नहीं होते। जितनी साधक को आवश्यकता हो और जितना साधन उपलब्ध हो, उतना ही पर्याप्त होता है।

रामकृष्ण जैसे भीतर से जाग उठे। जैसे ही यह जागरण हुआ, उनकी दृष्टि सम्मान, मर्यादा और आत्मगौरव की ओर गई। ये भी तो किसी बीज की तरह होते हैं, जो अंकुरित होकर वृक्ष बनते हैं, जीवन को आकार देते हैं

और फुनगी तक पहुँचा देते हैं। वही फुनगी है जहाँ वृक्ष खिलता है, आकाश की ओर ताकता है, तारे गिनता है और सप्तर्षियों की कल्पना करता है। ठीक उसी प्रकार, मान, मर्यादा और इज़्ज़त भी पूर्णिमा की रात की तरह देवी की आराधना का उपयुक्त मुहूर्त बन जाती है।

रामकृष्ण का मन अंतर्मुखी हो गया। जैसे ही यह परिवर्तन आया, उन्हें यह बोध हुआ कि जीवन जिस मुकाम पर आकर ठहर गया है, वहाँ इज़्ज़त और मर्यादा की क्या स्थिति है, और इसे कैसे सुरक्षित रखा जाए।

श्रावण के बादलों की तरह उनका मन उमड़ पड़ा। यह उमड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि जिस कार्य का बोझ उनके कंधों पर आया है, यदि उसे ईमानदारी और पूर्ण निष्ठा से निभाया जाए, तो वही आत्मगौरव और सम्मान को टिकाए रखेगा। जिन विद्यार्थियों की पढ़ाई की ज़िम्मेदारी उन्होंने ली है, वे न तो लोअर प्राइमरी के हैं और न ही मिडिल स्कूल के। वे हाई स्कूल में हैं। यहीं से कोई कॉलेज जाएगा और कोई पढ़ाई छोड़कर जीवन निर्माण में लग जाएगा।

ऐसे धरातल पर यदि उनके अपने जीवन में जीवंतता नहीं रही, तो कहीं न कहीं कोई न कोई कमी अवश्य रह जाएगी। परंतु वह जीवंतता आएगी कैसे?

रामकृष्ण ने यह निश्चय कर लिया कि वे अपनी आमदनी और कार्य को समय के अनुसार व्यवस्थित करेंगे। जब समय और आमदनी दोनों निश्चित हैं, तो यदि कार्य में नियमितता नहीं रहेगी, तो पिछड़ने की पूरी संभावना बनी रहेगी।

उनकी आमदनी से केवल उनका नहीं, बल्कि पूरे परिवार का जीवन-निर्वाह होना था। जीवन-खर्च में भोजन की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण होती है। यदि भोजन बाहर किया जाए, तो निश्चित रूप से खर्च बढ़ेगा; पर यदि उसे अपनी दिनचर्या में शामिल कर लिया जाए, तो काफी हद तक बचत संभव है। रामकृष्ण ने इस सोच को पूरी तरह अपनाया।

इसके बाद उन्होंने अपनी दृष्टि आगे की पढ़ाई की ओर केंद्रित की।

छोटे भाई-बहन घर पर रहकर कम से कम मैट्रिक तक की पढ़ाई तो कर ही सकते थे। उन्होंने विचार किया कि उनके हिस्से की जो ज़मीन है, उसे उपजाने का प्रयास किया जाए। और यदि उससे खर्च नहीं निकलता, तो ज़रूरत पड़ने पर थोड़ी-बहुत ज़मीन बेची भी जा सकती है।

लेकिन रामकृष्ण इस बात को लेकर स्पष्ट थे कि यदि केवल खर्च के कारण स्वयं या परिवार की बाल-बुद्धि को जीवन के मूल लक्ष्य से भटका दिया गया, तो जीवन दिशाहीन हो जाएगा।

रामकृष्ण ने बी.ए. में नामांकन तो कराया, लेकिन छह महीने बाद कॉलेज छोड़ दिया। पढ़ाई के लिए आवश्यक पुस्तकें उन्होंने पहले ही खरीद ली थीं। उन्होंने एक साथ परीक्षा का फॉर्म भरा और बी.ए. की परीक्षा पास कर ली।

बी.ए. उत्तीर्ण करने के बाद विद्यालय में उनका पद और वेतन, दोनों में वृद्धि हुई। साथ ही, उनके अच्छे परिणामों ने पढ़ाने के प्रति और भी उत्साह उत्पन्न कर दिया। प्राइवेट छात्र के रूप में विश्वविद्यालय से परीक्षा की अनुमति लेनी पड़ती थी, और रामकृष्ण ने मन ही मन यह ठान लिया कि जैसे ही अवसर मिलेगा, वे एम.ए. अवश्य करेंगे। हालांकि, उसके लिए अभी से तैयारी करनी होगी। ❑

2

≡

रामकृष्ण के मन में यह विचार पहले ही अंकुरित हो चुका था कि उन्हें एम.ए. करना है, लेकिन समय बीतता रहा और यह विचार अब तक कार्यरूप में परिणत नहीं हो पाया था। विद्यालय में रहते हुए वे साहित्य से जुड़े रहे, परंतु यह जुड़ाव केवल एक पूर्वपीठिका बनकर रह गया। इसका मुख्य कारण यह था कि उनका झुकाव सदैव साहित्य की ओर अधिक रहा।

यह कहना भी उचित नहीं होगा कि साहित्य में गणित नहीं होता, गणित उसमें भी है, लेकिन वह व्यापक और गूढ़ रूप में निहित रहता है। जब जीवन सीमित हो, तब गणितीय जटिलताएँ शिथिलता का कारण बन जाती हैं। जीवन के लिए यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र को उसके आँकड़ों (statistics) के साथ समझा जाए, और रामकृष्ण इससे बहुत दूर थे। यही कारण रहा कि समय गुजरता गया, लेकिन वे किसी निर्णायक बिंदु तक नहीं पहुँच पाए।

कभी-कभी कुछ कहना भी उचित नहीं होता। इसके कई कारण हो सकते हैं, परंतु यहाँ स्थिति कुछ अलग ही थी। रामकृष्ण के भीतर यह विचार उभरने लगा कि असंभव कार्य को संभव बनाने की ही प्रक्रिया जीवन है। इसलिए कार्य में आस्था दो प्रकार से बढ़ती है, एक ओर कार्य जीवन के लिए होता है और दूसरी ओर जीवन कार्य के लिए।

परंतु यह भी आवश्यक है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखे। उनकी चेतना में एक पंक्ति चमकी-

“कंगन के लिए दर्पण क्या, और पढ़नेवाले के लिए फ़ारसी क्या!"

रामकृष्ण के मन में जैसे 'जेठुआ नमी' जाग उठी। 'जेठुआ नमी' का अर्थ है, धरती में ठंडक का प्रवेश। हालाँकि नमी तो धरती में हमेशा रहती है, चाहे वह कभी जलमग्न हो जाए या कभी-कभी बिल्कुल सूखने लगे। लेकिन सृजन-शक्ति में भी उतार-चढ़ाव होता है। वह 'जेठुआ नमी' समुद्र की धार से उठकर धरती तक पहुँचती है। जैसे समुद्र में मछलियाँ अंडे छोड़ती हैं, वैसे ही धरती पर तपती धूप में बीज पकते हैं, मिट्टी को चीरते हुए कलिका बनकर उगते हैं और दुनिया के बीच अपनी पहचान बनाते हैं। वे अपने वंश और नाम की घोषणा करते हैं। अगर ऐसा न हो, तो फिर सब धान एक जैसे हो जाते और हर मान-सम्मान भी समान हो जाता।

जेठ की हरियाली की तरह रामकृष्ण के मन में अपने जीवन का गणित जाग उठा। उन्हें साहित्य भी गणित से भरपूर लगने लगा और अर्थशास्त्र भी। जैसे किसी के कान में कोई स्वर गूँजता है, आँखें झपकने लगती हैं, पलकें काँपती हैं, वैसे ही रामकृष्ण का मन काँपने लगा। काँपते हुए उन्होंने दोनों हाथों से आँखें मलीं, काग़ज़ और कलम उठाया और जीवन की गणना करने लगे।

एक ओर उन्हें सीधी राह दिखाई दी। एम.ए. के कोर्स में कुल आठ सौ अंकों के आठ विषय हैं, जिनमें से छह की परीक्षा वे पहले ही पास कर चुके हैं। अब केवल दो सौ अंकों के दो विषय शेष हैं, जिनकी जटिलता उन्हें रोक रही है। मन में एक चिपचिपी उलझन उठी। जितना आगे बढ़ते हैं, उतनी ही रुकावट महसूस होती है। रुकावट इसलिए भी होती है कि कभी-कभी अपने ही गढ़े हुए सूत्रों में उलझ जाते हैं। 'हाथी प्यासा, घोड़ा प्यासा, दलदल पानी, थलथल वाणी, पथ पर मान्यता' -इन कहावतों में अर्थ खोजते-खोजते मन ठिठक जाता है।

रामकृष्ण के सामने उनका डगमगाता मन परीक्षा की घड़ी को दीपावली की गूँज की तरह बार-बार दोहराने लगा-

"परीक्षा की घड़ी... परीक्षा की घड़ी...।" और वे निरंतर पढ़ते रहे। इसी सोच में पूरा एक वर्ष बीत गया, लेकिन वे किसी निर्णायक स्थिति तक

नहीं पहुँच सके।

विद्यालय में उनके प्रधानाध्यापक भी एम.ए. थे, लेकिन कुर्सी तो आखिर कुर्सी ही होती है। न उन्होंने कभी अपने पद की गरिमा पर विचार किया और न ही रामकृष्ण से जीवन की दिशा या योजनाओं पर कोई चर्चा की। यद्यपि यह भी सत्य है कि व्यक्तिगत गुण और पद–प्रतिष्ठा दो भिन्न विषय होते हैं। नियम के अनुसार दोनों का पालन होना चाहिए, लेकिन उसके लिए उपयुक्त समय और स्थान भी आवश्यक होता है। पर खैर, वह सब तो बस यूँ ही...।

रामकृष्ण ने सोचा, हेडमास्टर साहब से एम.ए. करने की बात उन्होंने अब तक क्यों नहीं की? जब पीछे मुड़कर देखते हैं तो पाते हैं कि स्कूल में चाहे शिक्षक नए हों या पुराने, अधिकांश केवल आई.ए. या बी.ए. पास ही थे। जहाँ आई.ए. और बी.ए. ही अधिकतम योग्यता हो, वहाँ एम.ए. मानो किसी भूतहा कल्पना जैसा प्रतीत होता है। भूतही बगान से आगे बढ़ते हुए, जब रामकृष्ण विद्यार्थियों की ओर देखते, तो समझते कि यह तो केवल एक पूर्वभूमि है, बच्चों की ज्ञानभूमि। इसी आधार पर कोई-कोई ही आगे बढ़कर एम.ए. की चोटी तक पहुँचता है या पहुँच सकेगा। परंतु इसमें भी एक चुम्बकीय संबंध होता है। एक सिरा दूसरे को खींचता है, घुमाता है।

तीसरी संध्या। कोसी के किनारे, यानी नदी की धारा के पास बनी वह पगडंडी, जिस पर लोग टहलते हैं। उसी रास्ते से होकर रामकृष्ण दूर तक निकल गए। मन के भीतर पढ़ाई का विचार कहीं दबा हुआ था। दिन का उजाला ढल चुका था। सूर्य अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर सोने चला गया था, लेकिन इजोरिया (चाँदनी) अंधेरे को पूरी तरह फैलने नहीं दे रही थी। इसी धूप-छाँव की खींचतान में रामकृष्ण लगभग तीन कोस तक टहलते चले गए। तभी मन में एक चेतना सी जागी-

“अरे! संध्या का समय हो गया, कितनी दूर चले आए!"

वापस लौटकर जब अपने ओसारे की कुरसी पर बैठे, तो मन में विचार आया- पहले हाथ–पाँव धो लूँ, फिर एक कप चाय बनाकर पी लूँ।

उसके बाद बैठकर सोचूँ कि मुझे करना क्या है। विचार के तो दो ही पक्ष होते हैं: 'हाँ' और 'नहीं'। फिर 'हाँ' के भीतर भी हज़ारों टहनियाँ फूटती हैं, और 'नहीं' के भीतर भी।

चाय पीने के बाद जब मन थोड़ा संयत हुआ, तो संकल्प की ओर ध्यान गया। यह निश्चय किया कि आज ही तय कर लूँगा- 'हाँ' या 'नहीं'। जैसे पूरब की लहरों में बहती किश्ती पश्चिम की ओर डोलने लगती है, वैसे ही विचारों की धारा में बहते हुए एक के बाद एक विचार आते-जाते रहे। उसी बहाव में साहित्य की धारा ने रामकृष्ण को जकड़ लिया।

"आऽ हा! कैसी अद्भुत, सुंदर नायिका है साहित्य, जो एक पल आधी घड़ी देती है, फिर उसी आधी घड़ी में आधा पल और...।" मन ही मन रामकृष्ण उसमें डूबते चले गए, इतने कि जैसे कोई मंदिर के द्वार पर खड़ा होकर शंख फूंक रहा हो और घड़ी-घंटों की ध्वनि उसकी चेतना से विलीन हो जाए। तभी एक और धुन अचानक उनके भीतर उतर आई-

"आध जनम हम नीन गंवाएल...।"

रामकृष्ण के पास कलाई-घड़ी तो थी ही, साथ ही घर की दीवार पर एक बड़ी, घंटीवाली घड़ी भी टंगी थी। अक्सर ऐसा होता है कि कोई घड़ी से समय जानता है, और कोई समय को देखकर घड़ी को पहचानता है। यही तो है दुनिया का खेल। कोई मिनट और सेकंड में समय को पकड़कर उसे नचाता है, तो कोई टूटा-फूटा चाँद देखकर अपने जीवन की निरर्थकता से जूझता है।

घड़ी ने टन किया। समय था साढ़े आठ। रामकृष्ण की तंद्रा टूटी। अब खाना बनाने का समय हो गया था। उन्होंने कलाई-घड़ी देखकर पिछला समय, यानी जब वे कुरसी पर बैठे थे, याद किया। पाया कि डेढ़ घंटा यूँ ही बीत गया और घंटी ही बजती रही। "हाय रे समय!" उन्होंने सोचा-

"थोड़ी देर सोचने का मन था, वह भी छूट गया! आज का जो काम था, जो विचार करना था, वह अब आज का न रहकर कल का हो गया। फिर तो काम हाथ से गया। चलो, खाना बनाते समय सोच लूँगा। लेकिन

विचार तो आज ही करना है।”

रामकृष्ण का जन्म एक संपन्न परिवार में हुआ था, ऐसे घर में जहाँ गीत-संगीत की गूँज थी। बचपन से ही उन्होंने वाद्ययंत्रों पर थोड़ा-बहुत हाथ आजमाया था। उनकी आवाज़ भी मधुर थी, जिससे स्वरलहरियों की साधना प्रारंभ से ही रही और आज भी वह पीछे नहीं छूटी है। अकेले रहने के कारण तबले और मंजीरे भले छूट गए हों, लेकिन हारमोनियम अब भी उनके पास है, और उसे वे नियमित रूप से बजाते हैं। गानेवाले, बजानेवाले और सुननेवाले- तीनों वही अकेले। तो फिर?

चूल्हे के पास बैठते ही उनके मन में हलचल सी जाग उठी। उसी हलचल में रामकृष्ण ने सबसे पहला निर्णय लिया कि अब वे एम.ए. करेंगे और प्रोफेसर बनेंगे। किसी भी कार्य की इच्छा पहले उस कार्य के लिए शक्ति की माँग करती है, और वही शक्ति संचित करने की दिशा में रामकृष्ण उसी क्षण से जुट गए। अब उन्हें तीसरे वर्ष की एम.ए. की परीक्षा देनी है। कल ही विश्वविद्यालय से पाठ्यक्रम लाएँगे और आठों विषयों की खंडवार पुस्तकें भी खरीदेंगे। अन्य कार्यों से थोड़ा-थोड़ा समय काटकर प्रतिदिन दो घंटे पढ़ाई के लिए निकालेंगे और फिर पूरे मन से लक्ष्य में जुट जाएँगे।

जीवन की टप-टप गिरती कठिन डगर पर खड़े होकर रामकृष्ण चूल्हे के किनारे से ही भविष्य को निहारने लगे। मन के साथ शरीर में भी स्फूर्ति आ गई। समय के अनुसार खाना बनाकर और खाते-खाते उन्होंने ठान लिया कि विस्तर पर लेटने के बाद और भी बेहतर ढंग से विचार करेंगे।

सेज सजाकर जैसे ही उन्होंने तकिए पर सिर टिकाया, उनका मन धक से विधवा माँ और भाई-बहनों की ओर उड़ गया। दिन-ब-दिन माँ की शारीरिक स्थिति गिरती जा रही थी। शरीर की यह गिरावट दो ही कारणों से हो सकती है, या तो शारीरिक कमजोरी या मानसिक पीड़ा। उम्र पचास के पार हो चुकी है, लेकिन उम्र के पैमाने पर वे अभी अधेड़ ही मानी जाएँगी। फिर अब शरीर क्यों कमजोर हो रहा है? सामान्यतः ऐसी अवस्था साठ के बाद आती है। और फिर खाने-पीने में भी कोई विशेष कमी नहीं रहने दी

जाती है, जैसी हजारों–लाखों परिवारों में होती है। नहीं, निश्चित ही माँ किसी मानसिक पीड़ा से ग्रसित हैं।

क्या ऐसी उम्र में, जब कोई स्त्री पति-विहीन हो जाए और बच्चे छोटे हों, तब उसकी इज़्ज़त और आबरू इस समाज में सुरक्षित रह पाती है? यह समाज जैसा बन चुका है, या जैसा बन रहा है, या जैसा बना दिया गया है, उसमें स्त्री की स्थिति क्या सचमुच सुरक्षित है? क्या माता-पिता का धर्म केवल बच्चों की सेवा करना है? बहन की शादी नहीं हुई है और वह अब माँ के सामने रहती है, क्या उसके मन में संताप नहीं उठता होगा?

रामकृष्ण के मन की वह कल्पना, जो अभी-अभी आशा और प्रसन्नता की ओर मुड़ी थी, एक झटके में उड़न छू हो गई। विस्तर पर लेटे-लेटे वे उलझते और कसमसाते रहे। माँ के बाद उनकी नज़र भाइयों-बहनों की ओर गई। दो-दो भाइयों की कॉलेज की पढ़ाई का खर्च उठाना कोई सरल कार्य नहीं है। लेकिन यह उनका कर्तव्य भी है। जैसे कभी रामकृष्ण ने मधुबनी कॉलेज में पढ़ाई की, वैसे ही अब उनके भाइयों को भी पढ़ाना उनका उत्तरदायित्व है। इससे वे मुँह नहीं मोड़ सकते।

अंततः यही हुआ कि अपनी ज़िंदगी के साथ-साथ परिवार की ज़िंदगी को भी अपनी कमाई में समेटना होगा। और यह समेटने का काम आखिरकार उन्हें स्वयं ही करना होगा। ❑

3

रामकृष्ण ने अंग्रेज़ी विषय में एम.ए. कर लिया। जैसा कि एम.ए. करने के बाद भीतर कुछ बदलता है, वैसी ही जागृति रामकृष्ण के भीतर भी आई। हालाँकि एम.ए. करने से पहले और बाद के बीच विद्यालय के शिक्षण कार्य में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आया, लेकिन शिक्षकों और छात्र–अभिभावकों के बीच उनके व्यक्तित्व में एक निश्चित बदलाव महसूस किया जाने लगा।

सन 1940 से 1960 के बीच की जो स्थिति थी, यानी आज़ादी के आंदोलन की शुरुआत से लेकर देश की आज़ादी तक की, वह कुछ वैसी ही थी जैसी भूकंप से पहले और बाद की ज़मीन, जो कभी डोलती हुई, कभी स्थिर, कभी अस्थिर। यद्यपि धरती पहले ही थोड़ा बहुत हिल चुकी थी, लेकिन जैसे बड़े भूकंप के बाद छोटे-छोटे झटके समय-समय पर आते रहते हैं, वैसे ही समाज में भी समय-समय पर हलचलें होती रहीं।

सन 1942 में आज़ादी का आंदोलन एक जन-ज्वार बन गया था। वह जन-जन तक पहुँच चुका था और लोग घरों से निकलकर सड़कों पर आ गए थे। स्वतंत्र देश के नागरिक बनने की ललक अब लोगों के भीतर अंकुरित हो चुकी थी। इस संघर्ष के कारण देश का उत्पादन बाधित हुआ। खेती-बाड़ी और शिक्षण संस्थान दोनों ही प्रभावित हुए। उस समय का पुराना दरभंगा ज़िला, जो अब मधुबनी, दरभंगा और समस्तीपुर में विभाजित हो चुका है, उसमें मात्र दो या तीन कॉलेज थे और उसी अनुपात में हाई स्कूल भी थे। संस्कृत विश्वविद्यालय के साथ-साथ कई स्थानों पर संस्कृत महाविद्यालय और विद्यालय भी कार्यरत थे।

सन 1942 के आंदोलन में जिस प्रकार कॉलेजों के शिक्षक और विद्यार्थी सम्मिलित हुए, उसी प्रकार स्कूलों के छात्र और शिक्षक भी आंदोलन में कूद पड़े। कठिन संघर्ष के बाद प्राप्त हुई आज़ादी ने देश को एक मीठा फल तो अवश्य ही दिया।

देश स्वतंत्र हुआ। जैसा कि हर क्षेत्र में स्वतंत्रता के बाद अपनी-अपनी समस्याएँ सिर उठाती हैं, वैसा ही अपने क्षेत्र में भी हुआ। स्कूल और कॉलेज, अस्पताल, सड़क और पगडंडी, खेत और पथार, सभी की समस्याएँ एक-एक करके उभरने लगीं।

तब के मधुबनी ज़िले में केवल एक ही कॉलेज था, आर.के. कॉलेज। जयनगर, बाबूबरही, पंडौल, सरिसव पाही, झंझारपुर, निर्मली आदि क्षेत्रों में कॉलेज और उसी तरह हाई स्कूल, मिडिल स्कूल खोलने की उत्सुकता समाज के भीतर जाग उठी। 1960 से पहले ही छह-सात कॉलेज खुल गए और लहेरियासराय में एक अस्पताल भी बन गया।

आज़ादी से पहले जो स्कूल और कॉलेज चल रहे थे, वे अब गति पकड़कर बेहतर ढंग से संचालित होने लगे। इसी कारण रामकृष्ण पर विद्यालय की ज़िम्मेदारी का दबाव लगातार बना रहा। नए-नए कॉलेज और स्कूल खुलने लगे, जिससे शिक्षकों की माँग भी बढ़ती गई। ऐसे में रामकृष्ण दो धाराओं के बीच फँस गए। एक ओर उनकी इच्छा थी कि वे हाई स्कूल से कॉलेज शिक्षक बनें, और दूसरी ओर यह कठोर यथार्थ था कि नवस्थापित कॉलेजों में वेतन की कोई स्थिरता नहीं थी, जबकि पूरे परिवार का भरण-पोषण उनकी नियमित आय पर निर्भर था।

जब तक कॉलेज व्यवस्थित रूप से न चलने लगें, तब तक नियमित वेतन संभव नहीं था। ऐसे में जीविका का जो एकमात्र सहारा था, यानी हाई स्कूल की नौकरी, उसे छोड़ना रामकृष्ण को उचित नहीं लगा। उनका पूरा परिवार उसी पर आश्रित था। साथ ही यह आशंका भी थी कि सीमित संख्या में कॉलेज खुलने से सीमित शिक्षकों की ही नियुक्ति हो सकेगी। यदि वे उस अवसर को चूक गए, तो वह उनके हाथ से हमेशा के लिए निकल जाएगा।

जैसे डाली से चूके हुए बंदर की गति होती है, वैसे ही अवसर से चूके मनुष्य की स्थिति हो जाती है।

जिस उत्साह से जनमानस आज़ादी के लिए जागा था और आगे बढ़ा था, वही उत्साह आज़ादी के बाद धीरे-धीरे बिखरने लगा। कहने को तो शासन विदेशी हाथों से निकलकर देशी हाथों में आ गया, लेकिन व्यवहारिक जीवन में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आया। यह कहना गलत होगा कि कहीं कोई बदलाव नहीं हुआ। कुछ स्थानों पर गाँव-समाज और परिवारों में निश्चित ही परिवर्तन देखने को मिले। परंतु कुल मिलाकर बदलाव सत्ता से सटे लोगों के जीवन में ही दिखाई दिया, जबकि गाँव और समाज लगभग वहीं ठहरे रह गए।

विविध रंगों के जो उपद्रव पहले से समाज में मौजूद थे, वे और भी बढ़ गए, घटे नहीं। और यदि कहीं कोई रंग घटाया गया, तो उसकी जगह दूसरा रंग और अधिक चढ़ा दिया गया। वैसे तो पूरे देश में जन-जन की समस्याएँ बनी हुई थीं, परंतु उन्हें कैसे मिटाया जाए, इसके लिए जैसी शासन-व्यवस्था होनी चाहिए थी, वैसी बन नहीं सकी। नवजात लोकतंत्र के लिए यह आसान नहीं था कि वह हज़ारों वर्षों से लुटे-पिटे देश को तुरंत उठा सके और आगे बढ़ा सके। यह कोई गुड़ की डलिया में पल रहा बच्चा नहीं था, जिसे पकड़ते ही मीठा लगने लगे।

गाँव-गाँव की आर्थिक संपदा और कौशल-संपदा, जिसे पहले ही दबा दिया गया था, उसे उठाने के लिए वैसा कोई ठोस उपाय नहीं अपनाया गया, जैसा कि वास्तव में आवश्यक था।

भूकंप या समुद्री तूफ़ान के बाद जैसे धरती और जल अस्थिर हो जाते हैं और फिर धीरे-धीरे शांत होते हैं, वैसे ही आज़ादी के बाद जनमानस के भीतर जो स्वतंत्रता का सपना था, वह भी डगमगाते हुए इतना दब गया कि उसकी पहचान तक मिटती-सी लगने लगी।

हाँ, कुछ क्षेत्रों के किसान अपनी ज़िंदगी को समझते हुए फिर से खेती-बाड़ी की ओर लौटे थे, जिससे वे गृहस्थ जीवन पर अधिक आश्रित

हो गए। लेकिन यह स्थिति हर जगह नहीं थी। जिनके पास हज़ारों बीघा ज़मीन थी, वे भी नौकरी करते थे, तो जिनके पास कुछ भी नहीं था, उनके पास कौन-सा उपाय बचता? ऊपर से घर और बाहर दोनों ओर से संकट तो थे ही।

हर साल बाढ़ का प्रकोप होता, जिसमें खेत-खलिहान और घर-द्वार तक बह जाते। मिट्टी कटकर धारों में बदल जाती। अधिक बारिश भी कभी-कभी आफ़त बन जाती। जाड़े का मौसम भी वैसा ही मारक सिद्ध होता, कभी महीनों तक चलनेवाली शीतलहर के रूप में। फिर भी, इन सबके बीच जीना तो था ही, और इसके लिए हर व्यक्ति अपनी-अपनी तरह से सोचता और संघर्ष करता रहा। शिक्षा की आवश्यकता को समझते हुए क्षेत्र में स्कूल और कॉलेज खोलने का विचार जनमानस में जाग उठा। 1960 ईस्वी से पहले, जब दरभंगा एक ज़िला था, तब समस्तीपुर से लेकर निर्मली तक कॉलेजों की स्थापना का माहौल बनने लगा। दर्जनों कॉलेज और हाई स्कूल खुले। लेकिन आज़ादी के बाद भी शिक्षा, विशेष रूप से शिक्षण व्यवस्था में वह परिवर्तन नहीं आया, जैसा कि गुलामी से मुक्ति पाने के बाद अपेक्षित था। साथ ही, यह भी महत्वपूर्ण है कि हम केवल किसानों का गाँव नहीं, बल्कि एक संपूर्ण राष्ट्र हैं। इसके बावजूद खेती-बाड़ी से जुड़ा कोई स्कूल या कॉलेज खोलने की बात तक नहीं हुई।

एक ओर खेत और पथार ज़मींदारी के बोझ से दबकर बंजर होते जा रहे थे, और दूसरी ओर पढ़े-लिखे लोग गाँव छोड़कर न सिर्फ राज्य, बल्कि देश तक छोड़ने लगे थे। जब ऐसे लोग पलायन करने लगे, तो मेहनतकश किसान भी पीछे क्यों रहते? वे भी शहरों और विदेशों की ओर मजदूरी के लिए निकल पड़े। अब न डॉक्टरों और इंजीनियरों की उतनी ज़रूरत रही, न ही केवल डिग्रीधारियों की, अब तो कारखानों में काम करनेवालों की माँग अधिक हो गई है। परंतु कड़ी मेहनत से मुँह मोड़ने से कोई समस्या हल नहीं होती।

पंडौल में भी एक कॉलेज खुला। रामकृष्ण ने अपने परिवार और व्यक्तिगत जीवन के सभी पक्षों का सावधानीपूर्वक मूल्यांकन किया। भाइयों

के मेहनती हो जाने से अब परिवार में कुछ हद तक आमदनी का स्रोत भी बन गया था। जब तक कॉलेज पूरी तरह व्यवस्थित नहीं होता, तब तक उन्हें स्वयं भी समय का सदुपयोग करना था।

रामकृष्ण के मन में यह विचार पहले से था कि जैसे-जैसे कॉलेज की स्थिति सुधरेगी, वैसे-वैसे वेतन में भी सुधार होगा। इसलिए उन्होंने सोचा कि क्यों न कॉलेज में शिक्षक के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई जाए। अभी समय हाथ में है, आगे ऐसा अवसर मिले या न मिले, कौन जानता। यह विचार मन में आते ही रामकृष्ण ने माँ और भाइयों-बहनों के साथ अपनी योजना साझा की। जैसे मालदह या कलकतिया आम पास आते ही मन ललचाने लगता है, वैसे ही रामकृष्ण के विचार से उनके परिवारजन भी प्रभावित हुए।

परिस्थिति के अनुसार सोचते हुए रामकृष्ण ने परिवार वालों से पूछा-

"आवा-जाही बढ़ेगी तो खर्च भी बढ़ेगा। और जब मेरा खर्च बढ़ेगा, तो स्वाभाविक है कि आप लोगों के हिस्से में कुछ कमी अवश्य आएगी। यदि आप लोग उस कमी को सह सकें, तो मैं आगे बढ़ सकता हूँ।"

सभी ने एक स्वर में कहा- "ठीक रहेगा, यही अच्छा होगा।"

रामकृष्ण ने पंडौल कॉलेज में नियुक्ति स्वीकार कर ली। प्रारंभिक दिनों में स्थिति सामान्य रही। उन्होंने सप्ताह में एक दिन पढ़ाना शुरू किया। धीरे-धीरे छात्र बढ़े, जिससे कॉलेज की आमदनी भी बढ़ने लगी। आमदनी बढ़ने के साथ ही वेतन में भी सुधार दिखाई देने लगा।

सड़क की तीन दिशाएँ थीं, एक ओर कॉलेज जाने वाली सड़क का सिरा, बीच में उनका घर और दूसरी ओर हाई स्कूल स्थित था।

तीन साल बाद, जब रामकृष्ण कमीशन से स्थायी रूप से बहाल हो गए, तब उन्होंने हाई स्कूल की नौकरी छोड़ दी और पूर्णकालिक रूप से कॉलेज में कार्यभार ग्रहण कर लिया। ❑

4

समय के साथ कॉलेज की स्थिति भी सुधरने लगी। सरकारी अनुदान और विद्यार्थियों की फीस में वृद्धि के कारण कॉलेज की आर्थिक दशा में सुधार आया। इससे नए भवन बने, पुस्तकालय की स्थिति बेहतर हुई, और शिक्षक व कर्मचारियों के वेतन में भी वृद्धि हुई। रामकृष्ण बाबू की ज़िंदगी में भी एक प्रकार की उन्नति आई।

वैसे भी, रामकृष्ण बाबू कॉलेज के सबसे अनुभवी शिक्षकों में गिने जाते थे। उन्हें उम्र और अनुभव, दोनों का लाभ मिला। पहला, हाई स्कूल में दस वर्षों से अधिक पढ़ाने का अभ्यास उन्हें एक कुशल शिक्षक की श्रेणी में लाकर खड़ा करता है। दूसरा, यह तो स्वाभाविक ही है कि जैसे बुढ़ापे में डिग्रियाँ बढ़ती जाती हैं, वैसे ही उम्र भी गाँवों को पार करती हुई ज्ञान की धार बहाने लगती है।

यह स्पष्ट है कि जब कोई अठारह–बीस वर्ष का नवयुवक कॉलेज में शिक्षक नियुक्त होता है और कोई सत्तावन–अठावन वर्ष का प्रौढ़, जैसे काञ्चीनाथ झा 'किरण', तब दोनों को एक ही दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता। एक ओर वह नवसीखा युवक होता है, जो अभी प्रशिक्षण की अवस्था में है, और दूसरी ओर वह अनुभवी प्रौढ़, जो गाँव-गाँव में ज्ञान की धारा बहा चुका होता है।

तीस–पैंतीस वर्ष की उम्र में जब रामकृष्ण बाबू कॉलेज में नियुक्त हुए, तब तक उनका बेटा भी हाई स्कूल पास कर कॉलेज में पहुँच चुका था। अन्य शिक्षकों की तुलना में रामकृष्ण बाबू को छात्रों की पढ़ाई में विशेष रुचि थी। हाँ, अच्छाई और बुराई तो हर जगह होती है, लेकिन इसका यह

अर्थ नहीं कि बुराई ही अच्छाई पर भारी पड़ती है। फिर समय का भी अपना एक रंग होता है, जब एक ही वेतन पर दो व्यक्ति काम कर रहे हों, तो कौन अधिक है और कौन कम, इसका क्या विशेष फ़र्क पड़ता है?

कॉलेज में शुरू से ही रामकृष्ण बाबू को शिक्षक, कर्मचारी और छात्र सभी श्रद्धा की दृष्टि से देखते रहे और सम्मान देते रहे। इस कारण रामकृष्ण बाबू के मन में कभी यह मलाल नहीं आया कि उनके जीवन में कोई कमी रह गई हो।

आख़िर यही तो है जीवन: जिस कार्य का भार हमने उठाया है, यदि उसका निर्वाह ईमानदारी से कर रहे हैं, तो फिर भीतर कोई मलिनता क्यों आए?

रामकृष्ण बाबू अंग्रेज़ी साहित्य के विद्यार्थी थे, लेकिन अंग्रेज़ों की जीवनशैली, अर्थात् अधिकतर कार्य स्वयं करना, वे नहीं अपना सके। इस संदर्भ में उन्हें भीतर से लगता कि कहीं न कहीं उनमें कोई कमी है। और हो भी क्यों न? मन ही मन हर व्यक्ति यह चाहता है कि उसका नौकर भी अपने काम में कुशल हो।

कॉलेज और रामकृष्ण बाबू के गाँव के बीच लगभग पचास से पचपन किलोमीटर की दूरी थी, जो पक्की सड़क से जुड़ी हुई थी। अच्छी सड़क होने के कारण नियमित बस सेवा उपलब्ध थी। इसलिए रामकृष्ण बाबू ने कॉलेज आने-जाने की व्यवस्था गाँव से ही बनाए रखी। जबकि दो–ढाई किलोमीटर दूर रहनेवाले शिक्षक भी किराए के मकान में रहना पसंद करते थे, चाहे इसके लिए उन्हें परिवार और समाज से कटकर किसी नए समाज में बसना पड़े।

रामकृष्ण बाबू अपने गाँव के पहले एम.ए. पास व्यक्ति थे, वह भी अंग्रेज़ी साहित्य में। वैसे भी, लोग कह देते हैं कि "दूर के ढोल सुहावने लगते हैं", लेकिन ढोल तो ढोल ही होता है। उसकी चाल और तबले की थाप क्या हर कोई समझ सकता है? कोई भी भाषा, भाषा तभी कहलाती है जब वह एक पूरे क्षेत्र में बोली और लिखी जाती हो। परंतु साहित्य समाज की वह

आत्मा है, जो शरीर की आत्मा की तरह हर समाज में निवास करती है। यदि कोई गाँव में अतिथि बनकर आता है और हम उसे आदर न दें, तो उस बेचारे अतिथि का क्या दोष?

खैर, इन सभी कारणों से रामकृष्ण बाबू को परिवार और समाज, दोनों ही स्तरों पर मान-सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। परिवार और समाज, दोनों को इस बात का लाभ मिला कि जब किसी एक व्यक्ति ने एम.ए. कर लिया, तो कम-से-कम एम.ए. तक की राह का बोध तो उसे हो गया। और जब वह जान गया, तो वही अपने परिवार में अगुआ बन गया।

आख़िर ऐसा कौन-सा पढ़नेवाला होगा, जिसके भीतर यह इच्छा न हो कि वह किसी उच्च शिखर तक पहुँचे? 'अगर-मगर' की एक गठरी सही, लेकिन मन-मंदिर में बसनेवाले हर ईश्वर की यही तो इच्छा होती है कि वह अंततः कैलाशवासी बने।

देखते-देखते रामकृष्ण बाबू के परिवार में भी शिक्षा का स्तर बढ़ने लगा। दोनों छोटे भाई भी एम.ए. पास कर गए, जिससे उन्हें नौकरी में पदोन्नति प्राप्त हुई। इसका प्रभाव गाँव पर भी पड़ा। प्रेरणा लेकर गाँव के पाँच और लोग एम.ए. पास हो गए।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि रामकृष्ण बाबू सदा गाँव से जुड़े रहे, लेकिन वे पूरी तरह जुड़कर रह भी नहीं सके। 'जुड़कर रहना' का अर्थ यह है कि जैसे मनुष्य का जीवन होता है, वैसे ही समाज का भी एक जीवन होता है, क्योंकि समाज भी मनुष्य का ही रचा हुआ है। जैसे परिवार में जब बेटा पिता की गोद में आता है तो पिता को अपना बचपन याद आने लगता है, और वह इसे पितृऋण मानकर चुकाने का संकल्प लेता है, ठीक उसी प्रकार समाज भी एक बड़ा परिवार होता है।

जब रामकृष्ण बाबू विद्यार्थी थे, तब वे स्वयं छोटे थे और उसी अवस्था में उनके स्कूल–कॉलेज के सहपाठी गाँव में बन चुके थे। जब वे हाई स्कूल में शिक्षक बने, तब तक विद्यार्थी जीवन की स्मृतियाँ बदल चुकी थीं, फिर भी वे उन्हीं लोगों के बीच रहे। सप्ताह में एक बार वे गाँव अवश्य आते थे,

लेकिन रास्ते की कठिनाइयों और पारिवारिक आवश्यकताओं में उलझकर समय यूँ ही बीत जाता, जिससे गाँव के सामाजिक कार्यों में ध्यान देने का अवसर नहीं मिल पाता था।

वैसे भी, समाज में जो कार्य होते हैं, सार्वजनिक कार्य, वे कई प्रकार के होते हैं और उन्हें करने के ढंग भी अलग-अलग होते हैं। इन कार्यों से रामकृष्ण बाबू का संबंध बहुत सीमित रहा।

कॉलेज के पुस्तकालय में समृद्धि आई। छात्र और शिक्षक दोनों के लिए अच्छी और नई पुस्तकें उपलब्ध होने लगीं, जिससे पुस्तकालय का संचालन भी बेहतर ढंग से होने लगा। जैसे प्रसिद्ध प्रकाशनों की पुस्तकों पर दृष्टि पड़ते ही उनके गुण का सहज बोध हो जाता है, वैसे ही रामकृष्ण बाबू की उपस्थिति से, पुस्तकालय से लेकर शिक्षक और विद्यार्थियों तक, सभी को लाभ हुआ।

रामकृष्ण बाबू का झुकाव शुरू से ही पढ़ाई-लिखाई की ओर था। ऊपर से पुस्तकालय की ज़िम्मेदारी भी उन्हें मिल गई, जिससे उन्हें पढ़ने-लिखने का और अधिक अवसर प्राप्त हुआ।

एक ओर कॉलेज के विद्यार्थियों को पढ़ाना और दूसरी ओर पुस्तकालय की देखरेख की ज़िम्मेदारी, रामकृष्ण बाबू कॉलेज के खुलने से लेकर बंद होने तक उसमें बँधकर रह जाते थे। हालाँकि इस कॉलेज में, अन्य कॉलेजों की तरह, पुस्तकालय के लिए अलग से रीडिंग रूम नहीं था, नहीं तो उनकी ज़िम्मेदारी और भी बढ़ जाती। फिर भी पुस्तकालय की पृथक ज़िम्मेदारी मिलने से उन्हें लाभ ही हुआ।

सुबह आठ बजे वे घर से बस पकड़ते और लगभग दस या पौने दस बजे कॉलेज पहुँच जाते। यदि कक्षा होती तो उसमें पढ़ाने जाते, अन्यथा पुस्तकालय के कार्यों में जुट जाते। पुस्तक वितरण का कार्य अन्य कर्मचारी संभालते थे, लेकिन पुस्तकालय की समग्र देखरेख की ज़िम्मेदारी रामकृष्ण बाबू पर थी।

सुबह दस से शाम चार बजे तक पढ़ने-लिखने का पर्याप्त समय उन्हें

कॉलेज में मिलता, जिसका उन्होंने भरपूर उपयोग किया। अंग्रेज़ी साहित्य के साथ-साथ उन्होंने हिंदी, मैथिली और संस्कृत साहित्य का भी गहन अध्ययन किया।

रामकृष्ण बाबू की पढ़ाई का प्रत्यक्ष लाभ छात्रों को मिलता रहा, क्योंकि वे पुस्तकालय में नवीन सामग्री पढ़कर ही कक्षा में आते थे और विषय को गहराई से पढ़ाते थे।

कॉलेज की दिनचर्या रामकृष्ण बाबू के जीवन की ऐसी नियमित प्रक्रिया बन गई थी कि सुबह उठने के बाद स्नान, ध्यान, चाय, भोजन, वस्त्र पहनना और फिर बस पकड़ना, उनका रोज़ का क्रम था। लौटते समय भी वे कॉलेज से चार बजे के बाद धीरे-धीरे निकलते और शाम सात से साढ़े आठ बजे के बीच घर पहुँचते। घर पहुँचते ही वे सीधे रात्रि-भोजन की व्यवस्था में लग जाते। गाँव के लोग उन्हें रोज़ आते-जाते देखा करते थे। सप्ताह में केवल रविवार को ही वे पूरा दिन गाँव में रहते थे।

फिर भी गाँव में लोगों की एक धारणा यह थी कि "छः महीने कॉलेज, नौ महीने स्कूल", अर्थात् कॉलेज की पढ़ाई केवल छह महीने चलती है और स्कूल की नौ महीने। शेष समय तो जैसे छुट्टियाँ ही रहती हैं, यानी कॉलेज बंद ही रहता है।

गाँव में रहते हुए भी रामकृष्ण बाबू गाँव के व्यापक समाज से कटे-छँटे जीवन में जीने लगे। गाँव के भीतर नए-नए समाजों का जन्म सदा से होता आया है और आगे भी होता रहेगा। इसका तात्पर्य यह है कि यदि गाँव में पाँच इंजीनियर बन जाएँ, तो एक 'इंजीनियर समाज' का गठन हो ही जाता है। अब समाज को इंजीनियर की क्या आवश्यकता है, यह तो वही जानें, लेकिन एक नया वर्ग तो खड़ा हो ही जाता है। इसी तरह और भी कई समाज बनते हैं: डॉक्टरों का समाज, प्रोफेसरों का समाज, और विस्तृत अर्थ में पढ़े-लिखों का समाज।

लगभग दो सौ परिवारों वाले इस गाँव में रामकृष्ण बाबू का जन्म हुआ था। उनका परिवार एक संयुक्त जातीय टोल का हिस्सा था, जो गाँव

में सुदृढ़ रूप से स्थापित था। शेष गाँव के लोग विभिन्न जातियों और छोटे-छोटे समुदायों में विभाजित थे। कुछ परिवारों के पास खेत थे, वे किसान कहलाते थे; और जिनके पास खेत नहीं थे, वे 'बोनिहार' माने जाते थे, जो पूरब-पश्चिम मेहनत करके जीवन बिताते थे। कुछ लोग छोटे-मोटे व्यापार में भी लगे थे। परंतु पढ़ाई-लिखाई के मामले में सभी लगभग एक जैसे ही थे। केवल दो-चार लोग ही हाई स्कूल तक पहुँच पाए थे, बाकी अधिकांश लोग उन लोगों में शामिल थे जो सरकारी कोटे से मिट्टी का तेल और गेहूँ उठाने के लिए सिर्फ निशान लगाते थे।

गाँव आदिम समाज से लेकर इक्कीसवीं सदी तक के इतिहास को अपने भीतर समेटे हुए है। यानी यह न केवल मनुष्य द्वारा निर्मित एक परिवार है, बल्कि समाज और देश-दुनिया का भी प्रतिरूप है। आज की सदी इक्कीसवीं है, अर्थात पहली सदी से शुरू हुई श्रृंखला की इक्कीसवीं कड़ी। आज हम जिस सीढ़ी पर खड़े हैं, वह इक्कीसवीं सीढ़ी है। और यही हमारा गुण भी है कि न तो हम बीसवीं में रह गए हैं, और न ही बाईसवीं में पहुँच गए हैं, हम इक्कीसवीं में ही हैं। इसलिए हमें यह भ्रम नहीं पालना चाहिए कि हम हमेशा चाँदनी रात के अशोक वृक्ष की छाँव में टोकरी लेकर सूत कातते रहेंगे।

लेकिन हम पूरी तरह निष्क्रिय भी नहीं हो सकते। हम सब इस धरती पर खड़े, एक खूँटे से बँधे नट-नटी जैसे हैं, और हमारे सामने एक विशाल रंगमंच सजा हुआ है। करोड़ों-अरबों तमाशबीन बैठे हैं, कुछ खड़े हैं, जो इस तमाशे को देखना भी चाहते हैं और देख भी रहे हैं...। रामकृष्ण बाबू जितने चरित्रवान थे, उतने ही ईमानदार भी। परंतु गाँव में रहते हुए भी उन्होंने समाज से कुछ हद तक अलग-थलग जीवन जिया। इसलिए समाज को जो लाभ उनसे मिलना चाहिए था, वह पूर्ण रूप से नहीं मिल सका। उच्च श्रेणी के पढ़े-लिखे लोग प्रायः उच्च स्तरीय चिन्तक और विचारवान होते हैं, लेकिन चिन्तन किस राह से गुजरकर विचार तक पहुँचता है, यही बात रामकृष्ण बाबू के लिए उलझन का विषय बन गई। यह उलझन जानबूझकर नहीं, बल्कि अनजाने में उत्पन्न हुई।

वे साहित्य के विद्यार्थी थे और स्वभाव से चिन्तक भी। इसी कारण वे साहित्य की दुनिया में भटकने लगे। भटकते-भटकते वे आज चारों युगों के साहित्य, उसकी भाषाओं और लिपियों के जाल में इस कदर उलझ चुके हैं कि अब उन्हें सुलझाना भी कठिन हो गया है। अंग्रेज़ी साहित्य की विशाल पुस्तकों से लेकर संस्कृत, मैथिली और हिंदी साहित्य की पोथियाँ अब भी उनके अध्ययन क्रम में हैं। स्कूल-कॉलेज के पाठ्यक्रम से आगे बढ़ते हुए अब वे अठारहों पुराणों में उलझे हुए हैं। उपनिषद, वेदांत, और एक लाख मंत्रों वाला ऋग्वेद, ये सभी अब तक उनके अध्ययन-सूची में शेष हैं...!

साहित्य की दुनिया एक ओर अलग है, तो दूसरी ओर समाज से जुड़ी भी है। इन दोनों की दिशा, दृष्टिकोण, विचारधारा और संचालन की विधियाँ भिन्न होती हैं। यदि इन दोनों के बीच दूरी आ जाए, तो वह दूरी बनी ही रहती है। यही कारण था कि रामकृष्ण बाबू गाँव-समाज में रहते हुए भी उससे थोड़ा हटकर ही बने रहे।

वैसे भी, जैसे महर्षि व्यास ने अपने अठारहों पुराणों का निचोड़ 'पाप-पुण्य' की सीमा पर लाकर रखा, वैसे ही लोक-साहित्य के ग्रामीण रचनाकारों की भी कोई पूर्व-निर्धारित सीमा नहीं रही। वे अपनी 'गमैया' भाषा में 'गमैया' लोगों के 'गमैया' अनुभवों और विचारों को, गाँव के इतिहास और भूगोल के आलोक में, एक सामाजिक दृष्टिकोण के साथ साहित्य का रूप दे देते हैं, और वही उनके लिए साहित्य बन जाता है।❑

5

≡

जैसे पढ़ने की खुशी पढ़ने के बाद सभी को होती है, वैसे ही रामकृष्ण बाबू को भी होती थी। जीवन की बस दो ही धुरी हैं: सुख और दुख। इन्हीं दो धुरियों पर दुनिया के तमाम चर-अचर प्राणी नाचते हैं, उड़ते हैं, महकते हैं और महकाते भी हैं।

एक ओर बेली, चमेली और जूही फूल हैं, जो धरती से सटे अपने पत्तों की पवित्रता और फूलों की सादगी के साथ जीवन का आरंभ और अंत करते हुए आकाश को अपनी सुगंध से भर देती हैं। दूसरी ओर राड़ी, डबहारी और पटेर हैं, जो अपने फूलों को आकाश में फैला देती हैं, दिशाओं में उड़कर अपने रंग-रूप दिखाती हैं। पर उनकी सुगंध कैसी है, यह तो बेली, चमेली और जूही ही पूछ सकती हैं।

हकीकत यही है कि जब कोई विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी के बाद चिंतन की अवस्था में पहुँचता है, तब वह उत्कंठा से भर उठता है-

"हे भगवान, यदि यही प्रश्न परीक्षा में आए, तो इससे बेहतर उत्तर कोई नहीं दे पाएगा।" हाँ, वही विद्यार्थी दे पाएगा, जो हमारी ही तरह पढ़कर मनन की राह पर चल रहा होगा। ऐसा अनुभव केवल हाई स्कूल या कॉलेज के विद्यार्थियों को ही नहीं, बल्कि सभी को होता है, और रामकृष्ण बाबू को भी होता था।

जब कोई पुस्तक पढ़ने के बाद चिंतन में डूब जाता है, तो वह निशा की निस्तब्ध रात की तरह अपनी सुध-बुध खो बैठता है। उसे लगने लगता है कि न जाने उसके हाथ-पैर हैं भी या नहीं, कान हैं या नहीं। आँखें यदि हैं, तो संसार को देख पातीं, पर जब अंधेरे में हाथ-पैर साथ नहीं देते, तब लगता

है जैसे शरीर से सब कुछ विलीन हो गया हो।

रामकृष्ण बाबू की एक मजबूरी यह थी कि पुस्तकालय में किताबों के लेन-देन के बीच जब बातों का सिलसिला छिड़ता, तो कोई बाइबिल से प्रश्न पूछ बैठता, कोई गीता से, कोई पुराण की कथा सुनना चाहता, तो कोई वेदांत की उलझन सामने रख देता, जिससे उनका मन लगातार तरल बना रहता। वे पढ़ने की धारा में तो निरंतर बहते रहते, लेकिन जब किसी पंक्ति तक पहुँचने की मोहलत मिलती, तो मन उसी में डूब जाता। यह बाधा पढ़ने में नहीं, बल्कि लिखने की धारा में अधिक बाधा बनती थी। यदि यह बाधा न होती, तो कोई क्यों कहता-

"कनक छड़ी सी कामिनी, कहे को रस लीन...।"

या कोई क्यों जोड़ता-

"कटि के कंचन काटि कऽ छाती पर रख दीन्ह..?"

जैसे सबके साथ होता है, वैसे ही रामकृष्ण बाबू के साथ भी होता।

ज्ञान आने पर जैसी गुनगुनाहट होती है, बुद्धि आने पर बुदबुदाहट, उसी तरह सूझ-बूझ आने पर 'खोद' (कविता की धुन, सृजन की तड़प) भी आती है, जिससे खोद-वेद जैसी अनुभूति होती है। और खोद से वेद की ओर बढ़ने की यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। रामकृष्ण बाबू के मन में भी तब 'कुर्सी की ओंगठान' (तल्लीनता) आ जाती।

ऐसी तल्लीनता में जैसे ही कोई नया विचार आता, शरीर में खलबली मच जाती। खलबली आते ही शर्ट की जेब में खोंसा हुआ पेन और डायरी निकाल कर वे तुरंत चार-पाँच पंक्तियाँ लिख डालते। कभी किसी धुन में गीत, तो कभी किसी लय में कविता। उन्हें इस बात का भान रहता कि गद्य-लेखन कठोर धरती पर चलने जैसा है, जबकि कविता तो सल-सल, दल-दल, थल-थल और जल-थल, सभी मार्गों पर सहजता से बह जाती है। इसी कारण उनकी पुरानी डायरियों में आज भी कई कतरनें, टुकड़े और अधूरी कविता-पंक्तियाँ वैसे ही खोंसी हुई पड़ी हैं।

जब कॉलेज में जैसी छुट्टी होती, रामकृष्ण बाबू पुस्तकालय से वैसी

ही अधपढ़ी किताबें या जितनी किताबें हो सकतीं, साथ लेकर गाँव लौटते ताकि वहाँ पढ़ सकें। पढ़ने की ऐसी लत लग गई थी कि लिखने की ओर हाथ बढ़ने ही नहीं देते। और हाथ कैसे बढ़ते? जब दुर्गापूजा की छुट्टियों में गाँव आते, तो भागवत कथा सबको सुनाने में लग जाते। गर्मियों की लंबी छुट्टियों में जब गाँव आते, तो सिनुरिया आम के लाल-पीले पक चुके फलों, कृष्णभोग के भारी-भरकम गोलों, सजमनिया के सजे-सँवरे स्वाद और फैजली आम के पेड़ों से फल झरने और पकने की मधुर गंध में लिपटे दिन चालीस दिनों की छुट्टी को पलक झपकते बिता देते।

मगर जैसे पेड़ जिस मिट्टी में रोपा गया हो, आम का स्वाद भी वैसा ही होता है। इसकी थाह रामकृष्ण बाबू नहीं पा सके।

रामकृष्ण बाबू आम के स्वाद में नहीं, बल्कि उस उलझन में अटक जाते थे कि जब हनुमान जी सीता को खोजते हुए लंका पहुँचे और वहाँ अमराई के बग़ीचे में कच्चे-पक्के, लाल-दमकते आमों को खा-खाकर स्वाद का अनुभव लिया, फिर उसी आम के गूदे की गुठली फेंकी, तो वही 'बम्बई' से 'बम्बई' और 'कलकत्ते' से 'कलकत्ता' हुआ। मगर यह सरही भुटभुटिया, खटहा नकुबी और गोबराहा सापसीन जैसे जात-बिरादरी वाले आम कहाँ से आ गए? इन्हीं पेचीदगियों में रामकृष्ण बाबू की साल-दर-साल की गर्मियों की छुट्टियाँ अमराइयों के पेड़ों के नीचे बीतती रहीं।

लेकिन वे इतना भी न समझ सके कि फल भी मनुष्य के भोजन की एक अनिवार्य वस्तु है।

जब पूरे वर्ष यानी 365 दिन में केवल फल ही भोजन का एकमात्र साधन हो, तब यह सवाल उठता है कि हजारों बीघे के आम के बग़ीचे वाली इस बस्ती से कोई यह क्यों नहीं पूछता कि जब आप डेढ़-दो महीने में ही इतना खा लेते हैं, वह भी बिना अन्न और व्यंजन के, सिर्फ 400 ग्राम फल खाकर, तो फिर एक किलो अन्न और तरकारी में कितना खाएँगे? और बाकी दस महीने के लिए फल कहाँ से आएँगे?

भाई, कुछ तो है इस आम के बग़ीचे की जेठ की दुपहर की झूला में।

यह मस्ती चैतावर से शुरू होकर चौमासे, फिर छःमासे और अंततः बरहमासे होकर निरंतर बहती रहती है। उसी मस्ती में रामकृष्ण बाबू का मन उलझा रहता था, जिसमें कवित्व शक्ति भी विद्यमान थी।

उन्हें कविता लिखने का कोई स्पष्ट संकल्प नहीं था, फिर भी जैसे:

"भुजंग प्रयात्, भुजंग प्रयात्,

भुजंग प्रयात्, भुजंग प्रयात्।"

जैसा कोई छंद बन सकता है।

या:

"हरि गरजल, हरि सबदल,

हरिक सबद सुनि, हरि चलल।"

यह भी कविता ही है।

तो फिर क्यों नहीं:

"नींद तोड़ो, जागो, उठो,

उठकर खड़े हो जाओ।"

यह भी कविता हो सकती है।

इसलिए कविता लिखने में कोई मानसिक उलझन नहीं थी। लेकिन जब लिखने का समय आता, तो झंझट खड़ा हो जाता कि शेक्सपीयर की शैली में गद्य लिखूँ या उसी शैली में पद्य? भले कुछ भी हो, लेकिन न तो 'चायनीज से तरबूज' जैसी कविता कभी कह सके, न ही कभी लिख पाए।

हाँ, यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने 'अंग-भंग' या 'भंग-अंग' जैसी कविता कभी नहीं लिखी हो!

वैसे, रामकृष्ण बाबू सदा से साहित्य के विद्यार्थी रहे हैं। इसी कारण उनका साहित्य से जुड़ाव निरंतर बना रहा। हाँ, रूप में थोड़ी तब्दीली जरूर आई। तब्दीली यह कि जब वे हाई स्कूल में शिक्षक थे, तब पारिवारिक जिम्मेदारियों के बोझ तले इस कदर दबे हुए थे कि न तो पढ़ने का सही

वातावरण बना सके, और न ही लिखने की ऊर्जा जुटा सके। इस कारण उनके अध्ययन की शक्ति भी बाधित हुई।

फिर भी साहित्य से प्रेम बना रहा, और वे परिवार की संस्कृति और संस्कारों से भी जुड़े रहे। परिवार में संगीत का भी विशेष स्थान था। वे एकाकी जीवन जीते थे, इसलिए हारमोनियम रखते थे। आखिर साज तो साज ही होता है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अकेले में भी रम जाते हैं और दूसरों के साथ भी। हारमोनियम या खौजरी ऐसे ही साज हैं। अगर ऐसा न होता, तो कबीरदास अपनी झोली में खौजरी क्यों रखते?

वैसे, हाई स्कूल की नौकरी में रामकृष्ण बाबू खुद के और परिवार के आवश्यक खर्च भी पूरी तरह नहीं उठा पाते थे। लेकिन यहाँ की मिट्टी भी कुछ ऐसी है कि पान न सही, तो पान की डंठल से भी पूजा का विधान पूरा हो जाता है। रामकृष्ण बाबू के जीवन में भी कुछ ऐसी ही खानापूर्ति चलती रही।

हालाँकि मन में यह भाव सदा बना रहा कि जीवन खानापूर्ति नहीं, बल्कि पूरी थाली होना चाहिए, पर...?

शिक्षक जीवन के दौरान रामकृष्ण बाबू संध्या समय एक घंटा नियमित रूप से हारमोनियम पर बैठते, अपनी स्वर-साधना करते और अपने इष्ट देव को अपनी पीड़ा अर्पित करते।

कॉलेज की नौकरी के दस वर्षों के बाद, जब वे प्रोफेसर बने, तब रामकृष्ण बाबू के जीवन की परिस्थितियाँ बदल गईं। एक साथ कई पारिवारिक उलझनें सुलझ गईं।

एक ओर कॉलेज के सरकारीकरण से वेतन में पर्याप्त वृद्धि हुई, और दूसरी ओर उनके दोनों बेटे बैंक की नौकरी करने लगे। बच्चों की पढ़ाई और शादी-ब्याह के उत्तरदायित्वों से भी रामकृष्ण बाबू मुक्त हो गए। और जैसे ही यह निर्वाण की स्थिति आई, उनके भीतर पढ़ने और लिखने की जिज्ञासा फिर से जाग उठी।

उन्होंने एक साथ कहानी-कविताएँ लिखनी शुरू कर दीं। जैसे किसी

को कोई गीत लिखने के बाद लगता है कि उसी गीत की माला बना कर गले में पहन लें, वैसे ही उन्होंने भी लगभग अस्सी पृष्ठों का एक कहानी-संग्रह प्रकाशित कराया।

उस समय रामकृष्ण बाबू जीवन के पचासवें वर्ष में प्रवेश कर चुके थे। मगर जीवन तो जीवन है। एक वह, जो उम्र और समय के नियमों से चलता है, और दूसरा वह, जो कर्म को आराधना मानकर साधना की राह पर चलता है।

लेकिन भगवान भी किसी के लिए सीमित नहीं होते। उनकी लीला विविध होती है। किसी को वे सुखदेव की तरह गर्भ में ही ज्ञान दे देते हैं, तो किसी को अष्टावक्र की तरह शुद्धता और अशुद्धता के ज्ञान से भर देते हैं। किसी को ध्रुव की तरह बचपन में ही एकाग्रता की शिक्षा देते हैं, तो किसी को युवनाश्व की तरह जवानी में और किसी को वृद्धा शबरी के यहाँ बेर खिलाकर ज्ञान कराते हैं।

रामकृष्ण बाबू ने पचास वर्षों तक पूरे समर्पण के साथ परिवार का पालन किया, और उसी का उन्हें फल भी मिला। उन्होंने तीनों बेटों को अच्छी तरह पढ़ाया-लिखाया, उन्हें अच्छे पदों तक पहुँचाया, विवाह-दान किए और तब जाकर जीवन की विश्राम-श्वास ली।

अब वह बीज, जो वर्षों से मन में गणित की किसी जटिल संकल्पना की तरह पड़ा था, चैती हवा पाकर जैसे अचानक एक घना वृक्ष बनकर खड़ा हो गया। और तब उनके मन में यह विचार खड़ा हुआ कि यदि साहित्य पढ़ा और उस पढ़े हुए से तनिक भी साधना नहीं की, तो वह पढ़ना व्यर्थ गया।

वैसे, साहित्य का क्षेत्र ऐसा है जिसका कोई ओर-छोर नहीं है। इसकी पार पाना आसान नहीं होता। यदि ऐसा न होता, तो कोई राग अलापते हुए घंटों स्वर-साधना क्यों करता? और कोई एक पाँव की अँगुली पर खड़ा होकर नाच क्यों करता?

लेकिन अब बात रामकृष्ण बाबू की करें, तो उनका मन कथा और कविता की ओर तीव्र धार की तरह प्रवाहित हो चला था। वैसे भी जिस उम्र

में वे अब पहुँच चुके थे, और जब मन में साहित्य का बीज अंकुरित हो चुका था, तो यदि उसका उचित पालन-पोषण किया गया, तो वह कविता से महाकाव्य और कथा से उपन्यास तक का रूप ग्रहण कर सकता था।

परंतु पारिवारिक जीवन अब एक ऐसी सख्त धारा बन गया था, जिसमें विचार भी जटिल हो जाते हैं और गति भी ठिठक जाती है। इसलिए उचित मार्ग पकड़ना भी कोई खेल नहीं रहा।

जब वे अपने संग्रह की सभी कहानियाँ समेटकर छपने के लिए प्रेस की ओर अग्रसर हुए, तो उन्हें अपने विवाह का दिन याद आ गया। कोई किसी की बेटी है, कोई बहू, कोई पत्नी, तो कोई जननी, सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ होती हैं, है न?

"तुम अच्छे से प्रेस से और भी ताजगी लेकर आओ।"

जीवन में क्या लेना है? यही तो कि एक सामाजिक प्राणी बनकर समाज को आत्म-शक्ति देना। अगर कोई पचास हजार रुपये महीना कमा रहा है, तो क्यों न वह अपनी और अपने परिवार की आवश्यकताओं को योजनाबद्ध तरीक़े से पूरा करे?

देश गरीब है, और गरीब इसलिए है कि हज़ारों वर्षों की गुलामी के बाद ही उसे स्वतंत्रता की साँस नसीब हुई है। इस कारण परिवार और समाज की धुरी भी ढीली हो चुकी है।

यदि परिवार में चार सक्रिय, उत्पादक सदस्य हों और वे अपनी उत्पादकता को परिवार के समुचित विकास में लगाते हुए आगे बढ़ें, तो वह परिवार भरोसेमंद अवश्य होगा।

रामकृष्ण बाबू का उत्साह जितना लेखन के समय था, उससे भी अधिक उत्साह पुस्तक छपने के समय उनके मन में जागा।

"मैं अपने आत्म-चिंतन को लोगों के बीच भेज रहा हूँ। कितनों की आत्मा उससे जुड़ पाएगी, यह तो बाद में पता चलेगा। लेकिन निरंतर इस साहित्य-साधना से जुड़ते हुए जो आने वाला दिन आएगा, वह अवश्य समृद्ध होगा।"

पुस्तक छपी। कुछ प्रतियाँ प्रियजनों, हितैषियों और रिश्तेदारों में बाँट दी गईं। पुस्तक छपते समय मन में यह विचार था कि इन्हीं पुस्तकों की बिक्री से अगली पुस्तक के प्रकाशन में सहूलियत होगी।

लेकिन समाज भी तो बड़ा अजीब है। एक ओर जहाँ पढ़ने का वातावरण धीरे-धीरे बन रहा है, वहीं दूसरी ओर पाठक पुस्तकों से लगातार दूर होते जा रहे हैं।

हज़ार प्रतियों में से मुश्किल से दो सौ किताबें ही बिना मूल्य बाँटी गईं। बाकी की प्रतियाँ अलमारी में जस की तस रखी रह गईं।

लोगों में एक विचित्र धारणा है कि यदि कोई लेखक अथक साधना से कोई पुस्तक प्रकाशित करता है और बाज़ार की उपयुक्त व्यवस्था या माँग न होने के कारण स्वयं उसकी बिक्री के लिए प्रयास करता है, तो मानो वह अपनी नैतिकता का प्रचार कर रहा हो।

मगर हाय रे, यह नंगरकट समाज! खुद कुछ नहीं करेगा, और जो कुछ कर रहा है, उसके सिर पर सवार होकर ताने मारेगा-

"अगर अच्छा लेखक होता, तो गाँव-गाँव घूम-घूमकर खुद प्रचार करता।"

लेकिन वह यह नहीं समझता कि जब कोई व्यक्ति अपने जीवन को अपने ही हाथों में लेकर, अपने पैरों पर खड़ा होकर, बुद्धि की राह पकड़कर और विवेक को लक्ष्य बनाकर आगे बढ़ता है, तो वही सच्चा मनुष्य कहलाता है।

मगर समाज के लोग तो समाज के लोग ही हैं। कोई दूसरों की अच्छाई को दिन भर बुरा बताता है, तो कोई अपनी बुराई को दिन भर अच्छा साबित करता है। यदि ऐसा न होता, तो कोई स्वयं को उदार क्यों कहता और दूसरों को कंजूस कहकर क्यों कोसता?

भाई, यह दुनिया गाली-गलौज की दुनिया है। पढ़ो, सुनो, सीखो और सिखाओ। अगर ऐसा नहीं करोगे, तो बिजली की रोशनी की तरह चमक कर भी अंधेरे में गिर जाओगे। हर कोई किसी न किसी को कोसने में ही

लगा हुआ है, जिससे यह दुनिया गाली सुननेवाले की भी है और पढ़नेवाले की भी। जैसे, कोई पुस्तक प्रेमी अपने सीधे-सच्चे पैसे को किताबों में लगाता है, वह मार्क्स की तरह उसमें खो जाता है। लेकिन साधारण लोग उसे भला-बुरा कहेंगे, उसकी प्रशंसा शायद ही करेंगे, क्योंकि यह इंसानी स्वभाव नहीं है।

ताड़ी और शराब पीने वाला भी अपनी मेहनत की कमाई ताड़ी-दारू में उड़ा देता है, फिर सड़क पर खड़ा होकर दुनिया को गालियाँ देता है, तो क्या वह सही कर रहा है? यह भी नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह, कुछ लोग खेतों से इतना प्रेम करते हैं कि अपने बेटे को कुपोषण का शिकार बना देते हैं, लेकिन उसकी पढ़ाई या ज़रूरत पर खर्च नहीं करते, और उसी के नाम खेत खरीद लेते हैं। ख़ैर, जो भी हो...!

दुनिया में हर कोई खुद को उदार मानता है और दुनिया को कंजूस कहकर गालियाँ देता है, चाहे उसका कर्म कुछ भी हो। लेकिन यह तो मन की 'माइन' का खेल है, मन की खदान का। मन का माइन जिसे अच्छा समझे या बुरा, वही उसकी खेती-बाड़ी की उपज बन जाती है। उपज तो समय के अनुसार खेत में होती ही है। तब, जो जैसा किसान होता है, वह हवा-पानी देखकर वैसी ही फसल लगाता है, जिससे उत्तम अन्न और तरह-तरह की भोज्य वस्तुएँ उपजती हैं।

वैसे, यह बात आज की नहीं है। शुरू से ही आम और ताड़-खजूर के पेड़ लगे हैं। लेकिन हैं तो दोनों पेड़ ही। अब फल न लगें या बुरे फल लगें, यह किसी के रोकने से रुकेगा नहीं। एक पेड़ से मीठा रस निकलता है, तो दूसरे से पिघली हुई गंध।

पर दुनिया का खेल भी कम नहीं है। किसी के फूल से फल बनता है, तो किसी के फूल को ही फल मान लिया जाता है, और फिर कभी मक्का जैसा मिलन भी नहीं हो पाता।

जिस दिन रामकृष्ण बाबू प्रेस से किताबों का बंडल लेकर बस से गाँव लौट रहे थे, उसी दिन गोसाघाट का मेला था। इसलिए बस में भारी भीड़

थी। गाँव की बस थी, इसलिए किताबों का बंडल लेकर किसी तरह चढ़ गए। परिचित कंडक्टर ने दरवाज़े के पास ही बैठने की जगह दे दी।

उन्होंने किताबों का बंडल दोनों जाँघों पर रखा और दोनों हाथों से पकड़े रखा, लेकिन भीड़ में जैसे खो गए। खोते-खोते उनकी आँखें भी बंद हो गईं। जैसे पहाड़ पर टहलती पार्वती को देखकर महादेव "कल्याण! कल्याण!" कहते हुए ध्यान में चले जाते हैं, वैसे ही उनका मन भी चंचल हो उठा। चंचल होते ही यह भी भूल गए कि गाड़ी में ठसाठस भीड़ है और उनके सामने जीवन भर की कमाई रखी है, इसलिए थोड़ी सतर्कता ज़रूरी है। रामकृष्ण बाबू का भावुक मन "शिव-शिव" करता हुआ कल्पनाओं में विचरने लगा। बस भी जैसे चलते हुए जड़ हो गई हो। कब पहुँचेगी, कब नहीं!

मन में यह विचार उमड़ रहा था कि पत्नी को अपनी जीवन भर की कमाई सौंप देंगे। परिवार में एक ऐसा अमर फल का वृक्ष रोप रहे हैं, जिसे पीढ़ियाँ रचेंगी, बसेंगी और भोगेंगी। हर किसी को अपना कीर्ति-चिन्ह सौंपेंगे। और यदि आज ही सब बाँट दिया जाए, तो कल फिर प्रेस की राह पकड़ेंगे।

जिस दिन रामकृष्ण बाबू ने अपनी कहानियों का संग्रह पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया, उस दिन तक वे यह नहीं समझ पाए थे कि उनके अपने ही परिजन मैथिली साहित्य की पुस्तकें क्यों नहीं पढ़ते। क्या केवल मैथिली भाषा को दोष देकर जीवन की राह से किनारा कर लेना उचित है?

भाषा अच्छी या बुरी हो सकती है, लेकिन भाषा से सजा हुआ जो साहित्य होता है, जो मनुष्य के आत्म-स्वरूप की अभिव्यक्ति होता है, वह कैसे उपेक्षित हो सकता है?

वैसे, जब तक रामकृष्ण बाबू की पुस्तक प्रेस में थी, तब तक उनकी सृजनात्मकता में भी कमी आ गई थी। किताब भी छह महीने तक प्रेस में अटकी रही, जिसे कॉलेज से समय निकाल-निकाल कर उन्होंने स्वयं संभाला।

जब उनका कथा-संग्रह प्रकाशित हुआ, तब उनके मन में वही उत्साह उमड़ पड़ा जो लदे हुए आम के पेड़ या खिले गुलाब के पौधे को देखकर होता है। उस क्षण उनके भीतर उमंग भर गई और मन दिन-रात कहानी और कविता की सृजनशीलता में डूबने लगा। उन्होंने कई बिखरे हुए कथा-रूप तैयार किए और कविताएँ भी लिखीं।

लेकिन लिखना और प्रकाशित कराना एक-दूसरे से जुड़ी प्रक्रियाएँ हैं। जब उन्होंने छपाई की ओर दृष्टि डाली, तो आँखों के सामने जैसे अंधकार-सा छा गया।

हालाँकि वह अंधकार बहुत गहरा नहीं था। वह गहरा अंधकार तो उस रचनाकार के सामने आता है जिसे आर्थिक मजबूरी होती है। रामकृष्ण बाबू के मामले में ऐसा नहीं था, क्योंकि उनकी स्वयं की आय पचास हज़ार रुपये मासिक थी और उनके दोनों बेटों की कमाई उससे भी अधिक थी।

फिर भी जिस योजना से पुस्तक की कीमत तय की गई थी, अगर पाँच सौ प्रतियाँ भी बिक जातीं, तो अगली छपाई की समस्या सुलझ जाती। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। किताबें घर में जैसे-तैसे पड़ी रह गईं, जिससे रामकृष्ण बाबू की सृजनशीलता धीरे-धीरे मंद पड़ने लगी। उनका मन मौलिक लेखन की दिशा से हटने लगा।

हालाँकि पढ़ने-लिखने का वातावरण बना रहने के कारण अध्ययन की अनुकूलता अब भी बनी रही। परंतु सृजन की दिशा से हटकर अब उनका मन समीक्षा और अनुवाद की ओर बढ़ने लगा। ❑

6

गाँव-घर और रूप-रंग से धीरेन्द्र, रामकृष्ण बाबू को पिछले तीस-पैंतीस वर्षों से जानते तो थे, परंतु कभी सीधे संवाद की स्थिति नहीं बनी। ऐसे में दोनों के बीच भविष्य में कोई संबंध विकसित होना चाहिए था, लेकिन जब वह संभावना भी समाप्त हो गई, तो बात बस मन में रह गई।

धीरेन्द्र साहित्य के विद्यार्थी थे और उसमें गहरी रुचि रखते थे। गाँव में समय-समय पर होने वाले पर्व-त्योहारों या सामाजिक आयोजनों में वे समाज से जुड़े विषयों पर बातें करते, साथ ही हँसी-मज़ाक में भी भाग लेते। फिर भी, कुछ अधूरा-सा रह जाता था।

कृष्णपुर के दक्षिण भाग टोले में एक सज्जन ने एक दिन साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया। पास के चार गाँवों से चार व्यक्तियों को आमंत्रित किया गया। चूँकि यह आयोजन गाँव में पहली बार हो रहा था, साहित्य-प्रेमी धीरेन्द्र ने इसे अपना दायित्व मानकर पूरी लगन से कार्यभार संभाला।

आमंत्रित चार विद्वानों में से एक थे रामकृष्ण बाबू। दूसरे, गाँव के ही एक अर्थशास्त्र के प्रोफेसर, जो सामाजिक कार्यों में सक्रिय रहते थे। तीसरे, पड़ोसी गाँव के एक वरिष्ठ आई.पी.एस. अधिकारी, जो वर्तमान में आई.जी. पद पर कार्यरत थे। चौथे, संस्कृत साहित्य के आचार्य, जिनका वैदिक अध्ययन अत्यंत गहन था।

धीरेन्द्र को भी इस कार्यक्रम में भाग लेने का समय मिल गया। हालाँकि वे स्वयं को वक्ता नहीं मानते थे, फिर भी उन्होंने एक जागरूक श्रोता के रूप में मंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई।

कार्यक्रम का मंच एक साधारण दरी-चटाई से बना था, जहाँ वक्ता और श्रोता एक साथ बैठे। यद्यपि कार्यक्रम के लिए कोई निर्धारित विषय नहीं था, फिर भी सभी अपनी-अपनी शैली में कुछ कहने को तैयार थे। मन में यह संकोच भी था कि कहीं मंच का माहौल 'विश्व-मोहिनी' नाटक के मंचस्थ नारद जैसा न हो जाए।

हालाँकि कार्यक्रम का समय अभी शुरू नहीं हुआ था, फिर भी आयोजन की तैयारी पहले से हो चुकी थी और सभी आमंत्रित विद्वान भी नियत समय से पहले, लगभग आधा-एक घंटा पहले, पहुँच चुके थे।

मंच खुला था, इसलिए चारों आमंत्रितों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने के बाद आयोजक चाय-पानी की व्यवस्था में लग गए। इस बीच सभी वक्ताओं ने एक-दूसरे का अभिवादन किया और दर्शकों से भी आत्मीयता से परिचय साझा किया।

युवाओं की उपस्थिति विशेष रूप से उल्लेखनीय थी। कोई पुलिस विभाग के आईजी से आमने-सामने संवाद का आनंद ले रहा था, तो कोई कॉलेज या विश्वविद्यालय से जुड़े विषयों पर चर्चा में व्यस्त था। वहीं आम जन इस बात को लेकर उत्साहित थे कि साहित्यिक उत्सव की यह नई बयार समाज को एक नई दिशा दे सकती है।

वाह रे गाँव की संस्कृति, यही तो वह भूमि है जिसे संतों ने बार-बार आकर पवित्र किया है। सबसे बड़ा आश्चर्य तब हुआ जब सभी अतिथि एक ही दरी पर बैठकर चाय पीने लगे। और जब आईजी साहब ने चाय देखते ही मुस्कुराते हुए कहा-

“किसी एक ओर से शुरू कीजिए,” तो माहौल में आत्मीयता और सहज हास्य भर गया।

कार्यक्रम आरंभ हुआ। सभी वक्ताओं ने अपनी सीमाओं में रहते हुए विचार प्रस्तुत किए, लेकिन चर्चा का केंद्र आईजी साहब ही बन गए। उनके बारे में यह बात तेजी से फैल गई कि वे वैष्णव हैं, मांस-मछली नहीं खाते और कभी घूस नहीं लेते। यही कारण है कि उनके पिता से संबंध मधुर नहीं

हैं। गाँव के लोगों का कहना था कि जहाँ थाने का एक मुंशी बीस बीघा खेत और दस कट्ठा घराड़ी ज़मीन खरीदकर तीन मंज़िला मकान खड़ा कर लेता है, वहीं एक आईपीएस बेटा होकर भी क्या फायदा। हमेशा आर्थिक तंगी में रहते हैं। महीना खत्म होते-होते तो साबुन लगाना भी छोड़ देते हैं।

जैसे ही मंच अध्यक्ष के नाम की घोषणा हुई, गाँव के पाँच से सात नवयुवक अपनी-अपनी कविताएँ लिए मंच के सामने एक साथ आकर खड़े हो गए-

"अरे, यह क्या हो गया?" ऐसा दृश्य उपस्थित हुआ, लेकिन सभी को कविता पाठ का अवसर दिया गया। पहली कविता के पाठ के दौरान रामकृष्ण बाबू जिस तरह सिर हिलाते जा रहे थे, उसी अंदाज़ में आईजी साहब भी शेरो-शायरी के लहज़े में बोलते रहे- "बहुत अच्छा, बहुत ही बढ़िया।"

सभा के पिछले हिस्से में धीरे-धीरे फुसफुसाहट भी सुनाई देने लगी।

"अरे, यह लड़का कब से कवि-मिज़ाज हो गया? जैसे पेट में ही सुकदेव से शिक्षा लेकर आया हो, उसी तरह धौंस के साथ कविता पढ़ रहा है।"

उसी समय, एक फक्कड़ स्वभाव का युवक टोकता है। "तू न तो खुद सुन रहा है, न दूसरों को सुनने दे रहा है।"

कविता पाठ का सत्र समाप्त हुआ। अब पहले वक्ता के रूप में मंच पर आए आईजी साहब। उन्हें श्रीमद्भगवद्गीता से विशेष लगाव है। गीता पर आधारित जितनी भी छोटी-बड़ी पुस्तकें उपलब्ध हैं, वे सभी उनके पास हैं और वे उन्हें नियमित रूप से पढ़ते भी हैं। उन्होंने गीता पर बोलना प्रारंभ किया। यद्यपि कोई विषय निर्धारित नहीं था, फिर भी उनकी वक्तृत्व क्षमता इतनी प्रभावशाली थी कि उन्होंने "ज़मीन के रास्ते गीता कैसे चल रही है" विषय पर बोलते हुए एक घंटे में श्रोताओं के हृदय में गीता की गूढ़ अनुभूति को उतार दिया।

एक ओर एकस्वर वक्ता और दूसरी ओर श्रोता पूरे ध्यान से सुनते

हुए। ऐसा प्रतीत होता था जैसे सभी अपने भीतर किसी नई चेतना का जन्म होते हुए अनुभव कर रहे हों।

इसके बाद चाय परोसी गई। साथ ही हल्की-फुल्की हँसी-मज़ाक का दौर भी चलता रहा। इसी दौरान रामकृष्ण बाबू ने अपने प्रकाशित कहानी-संग्रह की एक-एक प्रति दस श्रोताओं को ससम्मान भेंट की। धीरेन्द्र को भी एक प्रति मिली।

जब तक चाय चलती रही, लोग पुस्तक को उलटते-पलटते रहे। वे भाषा, लेखक-परिचय और प्रस्तुत विषयवस्तु को पढ़ते हुए रामकृष्ण बाबू के चेहरे को देखते रहे और अंततः सभी ने अपनी प्रति सहेज कर अपने सामने रख ली।

कार्यक्रम पुनः आरंभ हुआ। अब दूसरे वक्ता के रूप में रामकृष्ण बाबू को मंच पर आमंत्रित किया गया।

चूँकि कोई विषय पूर्व-निर्धारित नहीं था, सभी वक्ता अपनी पसंद के भाव-विषयों के साथ उपस्थित थे। और चूँकि यह एक साहित्यिक-सांस्कृतिक आयोजन था, न तो विषयों की कमी थी और न भावनाओं की।

आईजी साहब के गीता संबंधी प्रवचन से अभिभूत होकर रामकृष्ण बाबू भी गीता से प्रेरित भाव में बोलने लगे। परंतु उन्होंने शीघ्र ही गीता से हटकर रामायण की ओर बढ़ना शुरू कर दिया।

हालाँकि दर्शकों के बीच विषयों का क्रम थोड़ा भंग हुआ, लेकिन इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि एक ही विषय पर यदि पच्चीस वक्ता पच्चीस अलग रंगों में बोलें, तो कभी-कभी श्रोता के कान भी बोझिल हो उठते हैं। फिर भी चारों वक्ताओं के बीच आपसी समरसता बनी रही।

रामकृष्ण बाबू ने रामायण की सीता पर चर्चा आरंभ की। उन्होंने बताया कि वह सीता, जो ऋषियों-मुनियों के पुण्य से उत्पन्न हुई थी, पिता के घर शिव-धनुष को बाएँ हाथ से उठाकर रख देती है, वही विवाहोपरांत राजगद्दी के स्थान पर वनवास को स्वीकार कर लेती है। उस वनवास में केवल तीन प्राणी थे- राम, लक्ष्मण और सीता। फिर रावण कैसे छलपूर्वक

उनका हरण कर लेता है, यह प्रसंग भी उन्होंने विस्तार से सुनाया।

रामकृष्ण बाबू जहाँ एक ओर शिक्षा-वृत्ति से जुड़े थे, वहीं दूसरी ओर साहित्य और संस्कृति से भी गहरे सरोकार रखते थे। इसी कारण उनका वक्तव्य अत्यंत रोचक बन पड़ा। श्रोताओं को ऐसा अनुभव हुआ मानो दही-चीनी के भोज में सकरौड़ी पात पर परोसा गया हो। गीता से लेकर रामायण तक उनकी व्याख्या में दर्शक इतने तल्लीन हो गए कि पूरा सभागार भावविभोर हो उठा।

तीसरे वक्ता अर्थशास्त्र के प्रोफेसर थे। विषय को सरलता से समझाने की उनमें विलक्षण क्षमता थी, यही कारण है कि कॉलेज में वे सदैव श्रेष्ठ शिक्षकों में गिने जाते थे। उन्होंने अपना विषय भी साहित्य और संस्कृति की भूमि पर ही रखा।

उन्होंने मिथिला की मिट्टी और जलवायु की तुलना साइबेरिया के उत्तरी ध्रुव से सटे दक्षिणी क्षेत्र की भूमि से की। जहाँ साइबेरिया की भूमि वर्ष में तीन से पाँच महीने तक बर्फ से ढकी रहती है, वहाँ के लोग उसी कठोर भूमि को उपजाऊ बना कर जीवन यापन करते हैं। दूसरी ओर, हमारे यहाँ तीन प्रमुख ऋतुएँ, शीत, ग्रीष्म और वर्षा, मिलकर लगभग छह प्रकार के मौसम उत्पन्न करती हैं। फिर भी हमारे यहाँ न तो बर्फ गिरती है और न ही हिमजन्य रोगों से हमारी मिट्टी ग्रस्त होती है।

हमारे अनुभव में 'बर्फ' जैसी अनुभूति तब आती है जब तेज हवा के झोंकों के साथ ओले या बरसात के समय पत्थर गिरते हैं। यही हमारे लिए बर्फ जैसी चरम अनुभूति बन जाती है।

चौथे वक्ता बने आचार्यजी, जिन्होंने छठ पर्व पर विस्तार से चर्चा की। उन्होंने सबसे पहले पोखर के घाट पर अस्त होते सूर्य और उगते सूर्य के समक्ष सजाई गई सूप और कोनिया की अर्घ्य प्रक्रिया का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया। कुछ दर्शकों ने इसे समझा, जबकि कुछ के लिए यह अब भी एक रहस्य ही बना रहा।

इसके बाद, जब वे अर्घ्य के साथ सूप में भरे भुसबा और डाली में

रखे गुड़ की चर्चा करते हुए आगे बढ़े, तो उनका स्वर और विचार दोनों ही मधुर हो उठे।

वे कहने लगे-

“चावल की चिक्कस में कुशियार का रस मिलाकर अन्न को मधुर बनाने की जो कला है, वह हमारे पूर्वजों की देन है, जिसे हम आज भी जीवित रखे हुए हैं। हम खेती और गृहस्थी से उत्पन्न वस्तुओं को सजे-सँवरे पात्रों में सजाकर प्रस्तुत करते हैं, यह परंपरा एक युग की सीमाओं को रेखांकित करती है। जैसे वर्षा ऋतु की फसलें- हरदी, आदी, सुथनी, अड़ुआ, टौकना, कुशियार आदि- का समय अब समाप्त हो चुका है। अब इन्हें खेत से लाकर घर में उपयोग करने का समय है। उसी प्रकार, अंकुरित बीजों के प्रतीक में बताया गया है कि उनके अंकुरण का समय आ चुका है। अब उन्हें घर से निकालकर खेतों में रोपना चाहिए।”

आचार्यजी के वक्तव्य से दर्शकों में पर्व और परंपरा का रस प्रवाहित हो गया। उनके वाक्य जैसे एक आंतरिक पुकार बनकर सबके मन में उतर गए। कई श्रोताओं के मुख से अनायास ही निकल पड़ा- “यही तो है, खेती से आता और खेती की ओर लौटता हुआ उदय और अस्त।”

“एक जीवन की कथा- कैसे एक दाना वर्ष भर चक्कर लगाकर अंततः छठ घाट पर अंकुरित होकर प्रसाद बनता है और पावन आहुति देता है!”

कार्यक्रम का समापन सम्पन्नता और भावनात्मक पूर्णता के साथ हुआ। वातावरण में उल्लास की तरंगें लहराने लगीं। अब बाहर से आए अतिथियों और आभ्यागतों को विदा करने का समय आ पहुँचा।

यह विदाई भी एक भावनात्मक क्षण बन गई। जैसे सीता-स्वयंवर के बाद, जब जनकपुरी से जानकी को अयोध्या विदा किया जा रहा था और एक ओर बारातियों की भीड़ में जानकी थीं, तो दूसरी ओर स्वयं राम भी उसी यात्रा का हिस्सा थे; वैसे ही, एक ओर अतिथि प्रेम में भीगे हुए थे, और दूसरी ओर गाँव-समाज भी बाहरी समाज से मिले स्नेह से अभिभूत और

सिहर उठा था।

जैसे कार्यक्रम की शुरुआत में मंच-संचालक ने चारों अतिथि वक्ताओं का परिचय कराया था, वैसे ही विदा के समय भी सभी वक्ता आपस में स्नेहपूर्वक हाथ मिलाते हुए एक स्वर में बोले-

"ऐसे कार्यक्रम समाज में साल में एक बार अवश्य होने चाहिए।"

गाँव से लेकर आसपास के सभी गाँवों तक उपस्थित लोग एक स्वर में हामी भरने लगे-

"ऐसा आयोजन केवल एक गाँव में नहीं, बल्कि हर गाँव में होना चाहिए। अगर साल भर में दस गाँवों में एक-एक बार भी हो जाए, तो महीने-डेढ़ महीने में एक आयोजन हो ही जाएगा। इससे मन की ताजगी बनी रहेगी। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो हम बिना धार की हँसुआ-खुरपी जैसे भोथरे हो जाएँगे, जो किसी काम के नहीं रह जाते।"

हालाँकि चारों वक्ताओं की अपनी-अपनी जीवन-स्थितियाँ थीं। कोई हजारों कोस दूर नौकरी में बंधा हुआ था और सीमित छुट्टियों में जीता था। कोई कार्यभार के दबाव में कुचला हुआ था। कोई पारिवारिक उलझनों के बीच कोट-कचहरी और कार्यालय के बीच हाँफ रहा था।

फिर भी अंततः यह सहमति बनी कि, "कम से कम साल में एक बार तो हम इसी गाँव में कार्यक्रम अवश्य करेंगे।"

अंतिम विदाई के बाद चर्चा रामकृष्ण बाबू की पुस्तक पर केंद्रित हो गई। अपनी साहित्य-प्रियता की चर्चा करते हुए रामकृष्ण बाबू ने मातृभाषा में लेखन का संकल्प दोहराया- "हमारी हमेशा से यह इच्छा रही है कि विद्यालय की कक्षा को छोड़ जहाँ तक हो सके, अंग्रेजी से बचा रहूँ। अपने परिवार, समाज और विद्यार्थियों से भी अपनी भाषा में ही बातचीत करूँ, और यही कर भी रहा हूँ।"

चारों अतिथि अपने-अपने पथ पर विदा हो गए। धीरेन्द्र, जो रामकृष्ण बाबू के पड़ोसी गाँव से थे, उनके साथ-साथ कुछ दूर तक चले। रामकृष्ण बाबू का गाँव करीब ढाई किलोमीटर दूर था। गाँव के किनारे ही उनका घर

था, इसलिए वे पैदल ही आए थे।

जब दोनों कुछ कदम साथ चल चुके, तो धीरेन्द्र ने विनम्र भाव से कहा- “श्रीमान, मैं आपको चेहरे से और आपके शिक्षण कार्य से वर्षों से जानता था, लेकिन आज पहली बार आपसे सीधा परिचय हुआ। आपको पुस्तक लेखन के लिए हार्दिक बधाई।”

रामकृष्ण बाबू, जो अक्सर हजारों चेहरों के बीच पहचान खो देते थे, शायद धीरेन्द्र को भी पहले न पहचाना हो। लेकिन जब उन्होंने बधाई दी, तो रामकृष्ण बाबू मुस्कराते हुए पूछ बैठे- “आपका नाम क्या है? और आप करते क्या हैं?”

धीरेन्द्र ने उत्तर दिया- “नाम धीरेन्द्र है। मैं भी साहित्य का विद्यार्थी हूँ। थोड़ा-बहुत लिखता-पढ़ता रहता हूँ।”

रामकृष्ण बाबू बोले-

“हम तो पड़ोसी निकले। हाँ, नौकरी करता हूँ, लेकिन रविवार को गाँव पर ही रहता हूँ। आप अपनी रचनाएँ ज़रूर दिखाइएगा और आते-जाते संपर्क में बने रहिएगा। देखिए, इसे ही संयोग कहते हैं। एक ही पड़ोस में रहते हुए जीवन के इतने वर्ष बीत गए और परिचय आज हुआ!”

जब बातचीत करते हुए वे दोनों गाँवों के बीच, यानी रास्ते के मध्य बिंदु पर पहुँचे, तो दोनों को एक आत्मिक अनुभूति हुई कि वे “अधबीच” तक साथ आ चुके हैं।

मुस्कुराते हुए रामकृष्ण बाबू बोले- “बहुत दूर से आने वाले मेहमान से मुलाक़ात अक्सर लंबे समय बाद ही होती है। अब आप भी चलिए, और हम भी अपने रास्ते चलते हैं।” ❑

7

≡

नौकरी के अंतिम चरण में, जब सेवा-निवृत्ति में केवल तीन वर्ष शेष रह गए थे, रामकृष्ण बाबू प्रोफेसर इंचार्ज के रूप में प्राचार्य नियुक्त किए गए। कुछ समय पूर्व उनके मन में डी.लिट. करने का विचार भी उठा था, किंतु वे उसे पूरा नहीं कर सके। पीएचडी वे पहले ही एक उत्कृष्ट विषय पर कर चुके थे, और इसी कारण उनके भीतर एक स्वाभाविक सृजनशील ऊर्जा सक्रिय थी।

पचपन वर्ष की आयु में 'रीडर' पद पर पदोन्नत होकर, एक ओर जहाँ उनका वेतन बढ़ा, वहीं कॉलेज में एकमात्र रीडर होने के कारण उनकी पद-प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई।

पहले कथा-संग्रह से दूसरे संग्रह, अर्थात् कविता-संग्रह तक की यात्रा में, भाव और भाषा दोनों में स्वाभाविक अंतर था। किंतु प्रथम प्रकाशित रचना होने के कारण, वही मधुर गूंज अब भी उनके हृदय में बनी रही, जैसी कि कॉलेज के साथियों और परिवारजनों के बीच उस समय उत्सव का वातावरण बन गया था।

हालाँकि कविताएँ जो उन्होंने संग्रह में प्रकाशित की थीं, वे उस समय की नई रचनाएँ नहीं थीं। वे दस वर्ष पुरानी थीं। पचास वर्ष की उम्र के बाद जब उन्होंने पीएचडी के लिए पंजीकरण करवाया, उसी दिन से उनकी सृजनशील लेखनी जैसे थम-सी गई। यद्यपि कथा और कविता दोनों ही संग्रह उनकी मौलिक रचनाओं के संकलन थे, फिर भी लेखन में एकाएक ठहराव आ गया। इस ठहराव का एक कारण यह भी था कि पीएचडी की तैयारी में अत्यधिक समय व्यतीत हो गया। उनका मन रचनात्मक प्रवाह से

हटकर एक अलग दिशा में बह चला। साथ ही कॉलेज की जिम्मेदारियाँ तो पहले से ही थीं। जब रामकृष्ण बाबू इंचार्ज के रूप में प्राचार्य बने, तब उन्होंने पुस्तकालय का दायित्व किसी अन्य को सौंप दिया। लेकिन इसके बाद कार्यालयी कार्यभार इतना अधिक बढ़ गया कि मन में थकान घर कर गई और उनकी लेखनी पूरी तरह रुक गई।

यह बात सर्वज्ञात है कि चाहे कार्य शारीरिक हो या मानसिक, जब वह औसत से अधिक हो जाता है, तो थकान जल्दी आ जाती है, या फिर कार्य समाप्त होने के बाद भी देर तक बनी रहती है। यही स्थिति रामकृष्ण बाबू के साथ भी हुई। कार्यालय की उलझनों में उनका मन इस कदर थक चुका था कि घर लौटने के बाद किताब, काग़ज़ या कलम की ओर देखने तक की इच्छा नहीं होती थी।

माघ महीने की सुबह का समय था, लगभग आठ बजे। कल ही रामकृष्ण बाबू सेवा-निवृत्त हुए थे। कल तक यह समय स्नान का होता था और साढ़े आठ बजे तक वे भोजन कर कॉलेज के लिए निकल जाते थे, पर आज वह सारी दिनचर्या बदल चुकी थी। अब कोई तयशुदा कार्य नहीं था।

सावन के काले बादलों की तरह, रामकृष्ण बाबू के मन में भी भावनाओं का उमड़ना-घुमड़ना शुरू हो गया। उठते ही उन्होंने पत्नी से कहा-

"मन कुछ उदास लग रहा है। पीली चाय का कोई असर नहीं हो रहा। ज़रा एक बार कड़क, हार्ड-लीक वाली चाय बना दो।"

पत्नी सुभद्रा का मन भी उसी तरह उदास था। इसका कारण यह था कि उनके पति अब सेवा-निवृत्त हो चुके थे। जीवन-संगी का साथ पहले जैसा नहीं रह गया था। जब पति का जीवन ठहर जाता है, तो पत्नी का जीवन भी अनिवार्य रूप से ठहरता है। वह भी उसी ठहराव से पीड़ित होती है। कल तक जो कमाने वाले थे, आज उस भूमिका में नहीं हैं। कल तक जो निरंतर कर्मरत थे, आज उनकी कार्यक्षमता भले बची हो, पर कोई ठोस काम शेष नहीं रहा। जैसे चूल्हे पर रखे गर्म पानी में तरह-तरह के बुलबुले उठते हैं, वैसे ही सुभद्रा के मन में भी रंग-बिरंगे भाव उठते और बिखरते रहे।

किंतु वे क्या कहें और किससे कहें?

पति की वेदना में अपनी संवेदना मिलाते हुए सुभद्रा बोलीं-

“मुझे भी मन कुछ बिखरा-बिखरा सा लग रहा है। चलो, कॉफी ही बना लाती हूँ।”

'कॉफी' शब्द सुनते ही रामकृष्ण बाबू के मन में हल्की-सी आशंका जागी। उन्हें लगा, शायद सुभद्रा ताना मार रही हैं। लेकिन उसी क्षण उनके भीतर की संवेदनशीलता ने उन्हें रोक दिया। यह भी तो हो सकता है कि वह सचमुच चिंतित हो। वह कोई पराई तो नहीं, न ही इतनी दूर कि मेरी पीड़ा को महसूस न कर सके। इसलिए उन्होंने सधी हुई आवाज़ में कहा-

“जो अच्छा लगे, वही बना दो। लेकिन इतना ध्यान रखना कि जो बनाओ, वह थोड़ा कड़क ज़रूर हो।”

संतुलन साधते हुए सुभद्रा बोलीं-

“चीनी थोड़ी कम कर दी है कॉफी में। और कॉफी की अपनी एक अलग कस होती है।”

शतरंज की बिसात पर किसी गोटी की भाँति चुपचाप सहते हुए रामकृष्ण बाबू बोले-

“जब तक उसमें कस न हो, तब तक मन में भी मिठास नहीं घुलती।”

गैस चूल्हे की व्यवस्था थी, इसलिए कॉफी बनने में पाँच मिनट भी नहीं लगे। सुभद्रा ने तुरंत दोनों गिलासों में कॉफी भरकर एक गिलास रामकृष्ण बाबू के हाथ में थमाया और स्वयं भी सामने बैठकर कॉफी पीने लगीं।

सुभद्रा कॉफी पीते हुए बार-बार नज़रें उठाकर पति को देख रही थीं। यह देखने की वजह थी, उनके जीवन की बदलती धारा के दोनों किनारों का अवलोकन करना।

उधर, रामकृष्ण बाबू के मन में भी एक अंतर्द्वंद्व चल रहा था। वे सोच रहे थे कि एक स्त्री की पहली आकांक्षा यही होती है कि वह एक कर्मशील

पति के साथ हाथ में हाथ डालकर जीवन-पथ पर चले। वह तो कल तक था। मैंने अपनी मेहनत से न केवल स्वयं को, बल्कि पूरे परिवार को सँजोया और संवारा। पर आज वह कर्म-क्षेत्र ही छिन गया है। यह छिनना ऐसा है जैसे अब मैं पहले जैसा उपयोगी व्यक्ति नहीं रहा। जैसे सभी के साथ होता है, वही मेरे साथ भी हुआ है।

फिर भी मन के भीतर कहीं एक गड़गड़ाहट बनी हुई है। यह गड़गड़ाहट इस बात की है कि मुझे तो मासिक पेंशन मिलती रहेगी, जिससे दो जनों का गुज़ारा आसानी से चल जाएगा। कोई आर्थिक तंगी नहीं होगी। लेकिन क्या मन इसे स्वीकार करेगा? क्या मन यही नहीं कहेगा कि बिना श्रम के कुछ भी पाना, उस श्रमिक जीवन की गरिमा और मूल्य को खो देना है? और जब श्रम की मर्यादा ही मिट जाए, तब चाहे कोई व्यक्ति उन्नति के शिखर को ताज की तरह सिर पर क्यों न पहन ले, उसका कोई अर्थ नहीं रह जाता।

रामकृष्ण बाबू का ध्यान अब धीरे-धीरे पत्नी की ओर गया। स्वयं तो वे शायद किसी अन्य रचनात्मक श्रम के माध्यम से इस खालीपन की भरपाई कर लेंगे, लेकिन पत्नी को अब घरेलू दायित्वों में और भी अधिक भार उठाना पड़ेगा। कल तक वे सुबह आठ बजे से शाम आठ बजे तक बाहर व्यस्त रहते थे, और अपने अधिकतर शारीरिक कार्य स्वयं ही करते थे। अब वे दिनभर घर पर रहेंगे, शायद दिन में चार बार चाय की फ़रमाइश भी करेंगे। और अब शरीर भी ऐसा हो गया है कि उठना-बैठना कठिन लगने लगा है। अपने ही विचारों में उलझते हुए, मन की गाँठें और तन की थकान को एक साथ महसूस करते हुए रामकृष्ण बाबू अचानक बोले- "अब और बात करने का मन नहीं है।"

सुभद्रा ने बिना कुछ कहे खाली गिलास उनके हाथ से ले लिया। ऐसा करने का एक कारण यह भी था कि कहीं पति झुंझलाकर अचानक उठ न पड़ें। लेकिन वैसा कुछ नहीं हुआ। पति को भीतर-भीतर कुंठित होते देख सुभद्रा का मन भी व्याकुल हो उठा। व्याकुल इसीलिए कि देह अब वृद्ध हो चली थी। यदि वह इस समय वहाँ से उठकर चली जातीं और पति झुँझलाहट

में कोई अनहोनी कर बैठते, और फिर समाज में कोई पूछता-

“क्या हुआ? कैसे हुआ?” तो क्या यह कहना उचित होता कि "मुझे तो कुछ समझ में ही नहीं आया?”

यदि कोई पीड़ा मन में गहराई तक दब जाए और उसे जड़ से निकाला न जाए, तो वह कैसे कम हो सकती है? आखिर, माँ-बाप भी तो रोते-रोते अपने जवान कमाऊ बेटे की मौत का दुःख धीरे-धीरे भूल जाते हैं। फिर ऐसा कौन-सा दुख है जो इनके मन पर पहाड़ बनकर बैठा है और हल्का ही नहीं होता? दोनों जीवनसाथी अपने-अपने मन की दुनिया में कॉफी की कड़वाहट के साथ डूबे रहे। तभी रामकृष्ण बाबू के मन में एक युक्ति कौंधी कि यदि कुछ देर मौन साध लिया जाए, तो परिस्थिति से निकलने का मार्ग स्वयं मिल जाएगा। उन्होंने वैसा ही किया।

कुर्सी पर बैठे रामकृष्ण बाबू के शरीर में शिथिलता उतरने लगी, मानो सारी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही हो। उन्होंने महसूस किया कि यदि इसी स्थिति में कुर्सी पर बैठे रहे, तो शायद मुंह के बल गिर पड़ेंगे। सचेत मन ने चेताया और वे कुर्सी छोड़कर पलंग पर जा लेटे।

सिरहाने पर सिर ठीक से रखा भी नहीं था कि मन हवा में उड़ चला। वह उड़ चला उस दिशा में, जहाँ कल तक वे संसार के बीच अपने कार्यों में रमे हुए, शरीर, परिवार और समाज, सबको भूलकर जीते थे। पर आज वह संसार वैसा नहीं रहा। क्या सचमुच संसार उनके लिए अर्थहीन हो गया है?

जैसे ही ‘अर्थहीन’ शब्द मन में आया, विचारों की एक श्रृंखला उठ खड़ी हुई। यह विचार मन में आया कि जब संसार ही अर्थहीन हो गया, तो उनके अस्तित्व का क्या अर्थ रह गया? जब तक संसार था, वे भी थे...। परंतु अगले ही पल उनका मन अपने ही विचारों में उलझकर खुद को समझाने लगा-

"नहीं, संसार अर्थहीन नहीं हुआ है। वह पहले भी अर्थपूर्ण था, अब भी है और आगे भी रहेगा।”

फिर उनका ध्यान अपनी ही दुनिया की ओर गया। परंतु यही सोचते

हुए मन में फिर सवाल उठा-

"दूसरों के लिए भले ही संसार में अर्थ शेष हो, पर मेरे लिए तो यह अब अर्थहीन हो चुका है।"

"अगर ऐसा नहीं होता, तो जिस दिन मैं कॉलेज में प्रोफेसर बना, उस दिन जो योग्यताएँ थीं, उनमें तो आज और भी वृद्धि हुई है। फिर भी अब कौन-सा कॉलेज है जो मेरे लिए खुला हो, जहाँ मैं फिर से अपनी जगह बना सकूँ?"

रामकृष्ण बाबू का मन एक बार फिर ठहर गया। ठहरते ही मन में पीड़ा और गहराई से उठी-

"जब अपनी ही दुनिया अर्थहीन हो गई, तो फिर पूरा संसार अंधकारमय हो जाएगा ना?"

मन कराहने लगा। कराह इस बात की थी कि जब चारों ओर अंधकार फैल जाए, तब रहा कहाँ जाएगा? जीवन की इस उलझनभरी बनावट में रामकृष्ण बाबू भटकने लगे। यह भटकाव वैसा ही था जैसे किसी परती या बियाबान जमीन में, जहाँ झाड़ियों और जंगलों के बीच पगडंडियाँ तो होती हैं, लोग चलते भी हैं, पर कोई निश्चित दिशा या मंज़िल नहीं होती। तब वही रास्ता भटकाव का बन जाता है। उसी तरह रामकृष्ण बाबू का मन दौड़ तो रहा था, मगर उसे कोई ठौर-ठिकाना नहीं मिल रहा था। उलझन में दम घुटने लगा था।

लेकिन कुछ ही क्षणों बाद जब मन थोड़ा शांत हुआ और साँसों की गति संयत हुई, तो उनके भीतर की दृष्टि जीवन की उस धार पर जा ठहरी, जो दो किनारों के बीच बहती रहती है।

कल तक की जो ज़िंदगी थी, उसमें हर पल किसी निश्चित कार्य में बंधा रहता था। समय पर भोजन, काम और विश्राम। अपने जीवन के साथ-साथ जो सेवा का बोझ काँधे पर था, वह निभाते हुए वे संसार की सेवा भी करते। यही तो संन्यासियों का जीवन होता है, जो बाह्य रूप से संसार का त्याग कर देते हैं, पर दिन-रात उसी संसार की सेवा में आत्मस्थित रहते हैं।

रामकृष्ण बाबू का आत्मबोध जैसे एकाएक जाग उठा। मासिक वेतन पर आधारित सेवा का बोझ अब उतर चुका था, जो अब किसी भरपाई के योग्य नहीं रहा। पर क्या इसका यह अर्थ है कि उनमें वह शक्ति नहीं रही, जो किसी सहारे के बिना आगे बढ़ सके? अपने ही बलबूते चलना और दूसरों के सहारे टिके रहना, यही तो हार-जीत का असली मर्म है।

उन्हें अपनी सृजनात्मक शक्ति की याद आई। जैसे ही वह स्मृति लौटी, उनका मन भीतर से आनंदित हो उठा, मानो कोई नई वस्तु मिल गई हो। हर्ष से भरकर उन्होंने पत्नी को पुकारा- "कहाँ हो?"

चार कमरों का घर और आँगन। सुभद्रा आखिर जाती भी कहाँ? अधिक से अधिक शयनकक्ष से रसोईघर तक की दूरी।

पति की पुकार सुनकर बोलीं- "यहीं हूँ, आ रही हूँ।"

कहती हुई सुभद्रा सामने आ खड़ी हुईं। रामकृष्ण बाबू भी पलंग पर पालथी मारकर बैठ गए। जैसे कैरम वोर्ड की उलटी गोटी को सही दिशा देना हो, या महाभारत के अर्जुन की भाँति लक्ष्य पर सधा हुआ वाक्य छोड़ते हुए बोले- "अगर यूँ ही चिड़िया की तरह चहकती हुई उड़ती रहोगी, तो फिर साथ जीने का क्या अर्थ?"

रामकृष्ण बाबू की बात सुभद्रा पूरी तरह समझ नहीं पाईं, लेकिन 'चिड़िया' शब्द तो उनके कानों में स्पष्ट पड़ गया। चुटकी लेते हुए बोलीं-

"मर्दों का क्या ठिकाना! बेचारी मादा चिड़िया को तो अंडे भी सेने पड़ते हैं। आपको क्या? नौकरी गई तो अब पलंग पर बैठे-बैठे हुक्म चलाइए।"

सुभद्रा की बात रामकृष्ण बाबू के हृदय में चुभ गई। भीतर तक तिलमिला उठे। फिर भी, चुप रहना उन्हें उचित नहीं लगा। बात का रुख मोड़ते हुए, उन्होंने बेटों और बहुओं की चर्चा छेड़ने का मन बनाया और बोले- "तो अब आपके पास कोई काम नहीं रह गया?"

रामकृष्ण बाबू के भीतर विचारों की लहरें उठ ही रही थीं कि सुभद्रा बीच में बोल पड़ीं- "ऐसे मन तोड़ने वाली बातें क्यों कहते हैं? दुनिया को

कर्मभूमि कहा गया है, और आप...?”

असल में रामकृष्ण बाबू के मन में यह विचार उमड़ रहा था कि जिस तरह वे स्वयं कार्यविहीन हो गए हैं, काश सुभद्रा भी हो जातीं, तो दोनों के जीवन में समानता आ जाती। लेकिन यह संभव नहीं है। वे स्वयं कार्य से निवृत्त हो चुके हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि सुभद्रा का कोई कार्य नहीं रह गया है। एक तो वे पहले की तरह ही घर-आँगन का सारा काम करती आ रही हैं, और अब, उनके साथ घर में रहने से पारिवारिक बातचीत और गतिविधियाँ भी बढ़ेंगी, जिससे काम का बोझ भी बढ़ेगा।

रामकृष्ण बाबू का मन बेचैन होने लगा। बेचैनी इतनी बढ़ गई कि सिर और पाँव, मानो दोनों एक साथ घूमने लगे। जैसे किसी चक्रवात में फँसा चक्का हर दिशा में एक-सी गति से घूमता है, वैसा ही उनका मन भी चक्कर खाने लगा।

कभी सोचते कि पत्नी जीवन-संगिनी हैं, तो कार्यभार भी समान होना चाहिए। फिर विचार आता कि जैसे आदिम युग में कोई व्यक्ति दूसरे का हाथ पकड़कर उसे दास बनाता था, क्या आज भी पत्नी की वही स्थिति है? क्या वह भी एक गुलाम है, जिसे बिना पूछे काम करने के लिए बाध्य करना ठीक है? और अगर वह इनकार करे, तो क्या मैं ऐसा मरद हूँ जो मार-पीट कर उससे काम करवाऊँ और खुद मालिक बन बैठूँ?

रामकृष्ण बाबू एकदम चुप हो गए। पर हालात के दबाव में, या शायद सामाजिक परंपरा के पालन के चलते, एक विचार उनके मन में कौंधा- "यह कौन-सा अनुचित कार्य है? क्या समाज में केवल मैं ही ऐसा हूँ? या फिर यह समाज की स्वीकृत रीति बन चुकी है?”

रीति से ही परंपरा बनती है, और परंपरा से नीति। और समाज की नीति तो यही है...।

मगर तभी उनका ध्यान अपने साठ वर्षीय, थके हुए शरीर से भी अधिक थकी हुई पत्नी के पसीने पर टिक गया, उस पत्नी पर, जो जीवन भर आग की आँच के पास बैठकर घर चलाने की तपस्या करती रही है। ऐसे

में यह संग-साथ कैसा? कोई धूप में झुलसे और कोई छाँव में मस्ती करे?

हालाँकि रामकृष्ण बाबू ने पत्नी को इसलिए पुकारा था कि जब वे गाँव छोड़कर किसी बेटे के पास रहने लगेंगे, तब दोनों की जीवनधारा समानांतर चल सके। पर उनके भीतर फूहड़ मन में भिन्न-भिन्न विचार उठने लगे। यह सोच मन के भीतर ही दबकर रह गई। अंततः उन्होंने कहा-

"एक बात समझ में आई है?"

रामकृष्ण बाबू की बात कहने की मुद्रा इतनी गंभीर थी कि सुभद्रा चौंक गईं। चौंकते हुए बोलीं- "क्या आ-आ-आ... नहीं हीं-हीं-हीं...?"

हालाँकि मुँह से उन्होंने कुछ शब्द कहे, लेकिन मन में यह विचार भी उठा कि इस दुनिया में इतनी सारी बातें, इतने लोग हैं, फिर कौन-सी ऐसी एक बात बची रह गई है जो अब तक की बातचीत में छूट गई? सुभद्रा अपने ही विचारों में उलझी थीं कि तभी रामकृष्ण बाबू अचानक बोले- "ज़रा चाय पिला दो।"

'चाय पिला दो' सुनते ही सुभद्रा के होंठों पर हल्की मुस्कान आ गई। मन-ही-मन बोलीं- "पहाड़ खोदा, निकली मूसरी!"

हालाँकि यह बात मज़ाक में कही गई थी, फिर भी मन तो उखड़ा ही हुआ था। बोलीं- "माँड़ पीकर तो औरतें जिंदा ही रहती हैं। ऐसी ही बहाने से भी चाय पी लूँगी।"

पत्नी की यह बात रामकृष्ण बाबू को अच्छी नहीं लगी। इसका कारण यह था कि उनके मन में जो गंभीर विचार उमड़ रहे थे, पत्नी की प्रतिक्रिया उसके अनुरूप गंभीर नहीं लगी। इसलिए उन्होंने मौन रहकर मन ही मन सोचते रहना बेहतर समझा और सुभद्रा को पास से हटाना चाहा।

सुभद्रा चाय बनाने चली गईं।

उनके जाते ही जैसे किसी बर्तन में गर्म पानी की लहरें धीरे-धीरे शांत हो जाती हैं, वैसे ही रामकृष्ण बाबू का मन भी धीरे-धीरे स्थिर होने लगा। फिर भी मन भीतर-ही-भीतर काँपता रहा। उसी काँपते मन में एक सवाल

उठा-

“मैं हूँ कहाँ?”

"मैं कहाँ हूँ?” यह प्रश्न उठते ही जैसे मन एक पल के लिए शून्य हो गया। सब कुछ धुँधला-धुँधला लगने लगा। लेकिन जैसे कोई वृक्ष अपनी जड़ों से पुष्प और फल देने लगता है, जिससे उसे लगाने वाले की प्यास धीरे-धीरे बुझने लगती है, वैसे ही रामकृष्ण बाबू के मन में जिज्ञासा की नई लहरें उठने लगीं।

एक साथ कई प्रश्न उठने लगे। कोई-कोई प्रश्न ऐसा लगता, मानो वह बहुत गहराई से उपजा हो, जिससे मन हर्ष से भर उठे। लेकिन यदि सामने टूटी हुई छाती या फटा माथा दिख जाए, तो वही मन सहमकर ठिठक जाता। फिर भी काँपते मन को थामते हुए उन्होंने जीवन की धारा को पकड़ने का प्रयास किया। उसी समय सुभद्रा चाय लेकर आ गईं। अक्सर होता यही है, जब हम अपने जीवन की कोई गाँठ खोलने बैठते हैं और उसी बीच कोई नया आगंतुक आ जाए, तो अपने विचारों को रोककर पहले उसका कुशल-क्षेम पूछना स्वाभाविक हो जाता है। रामकृष्ण बाबू को भी कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ। चाय के गिलास से उठती भाप देखकर बोले-

“आपने तो चाय कुछ ज़्यादा ही उबाल दी है, रंग बड़ा अच्छा लग रहा है।”

इस बीच सुभद्रा दो घूंट चाय पी चुकी थीं। गरम चाय की भाप उनके मुँह से निकलती ही रही। भाप में डूबी आवाज़ में उन्होंने उत्तर दिया-

“जितना गरम पुरुष होगा, जितनी धधक उसमें होगी, अगर उतनी ही स्त्रियों में भी हो, तो दुनिया स्वर्ग बन जाए।”

रामकृष्ण बाबू भी आधा गिलास चाय पी चुके थे। अब चाय की भाप ठंडी हो चुकी थी, लेकिन पत्नी की कही वह भारी बात उनके मन में घूमती रही, इतनी गहरी बात उन्होंने क्यों कही? और वह भी केवल दोनों के संदर्भ में नहीं, पूरी दुनिया की बात कह गईं! संकोच के साथ रामकृष्ण बाबू ने पूछा- “नहीं समझा। क्या सचमुच दुनिया स्वर्ग बन जाएगी?”

सुभद्रा मुस्कराईं और बोलीं-

“सब बातें आज ही सुलझा लेंगे या कुछ कल के लिए भी छोड़ा जाएगा? इसे कल पर ही छोड़ दीजिए।”

उनकी चितवन देखकर रामकृष्ण बाबू का मन अस्थिर हो गया। फिर बोले-

“अब जब रिटायर हो ही गए हैं, तो क्यों न बेटों के पास जाकर दोनों पति-पत्नी साथ रहें?”

‘बेटे-पुत्रवधू के पास जाकर रहें’ यह सुनते ही सुभद्रा के मन में खलबली मच गई। एक साथ कई प्रश्न उठ खड़े हुए। उनके भीतर विरह की एक बेचैन लहर बहने लगी। एक ओर अपने हाथों से सँवारी-सजाई गृहस्थी थी, दूसरी ओर विचारों की उलझनें। ऊपर से एक नहीं, तीन-तीन बेटे। और तीनों की अपनी-अपनी अलग ज़िंदगी। सभी नौकरी-पेशे में हैं। बेटे दिन भर अपने-अपने कामों में व्यस्त रहते होंगे और घर-परिवार की सारी ज़िम्मेदारी बहुओं पर ही टिकी होगी।

बहुओं की छवि मन में आते ही सुभद्रा और अधिक विचलित हो उठीं। पति की ओर देखते हुए दाँत भींचकर सोचने लगीं कि आखिर कैसा बेतुका विचार इस आदमी के दिमाग पर सवार हो गया है! ऐसा व्यक्ति सिर पर बैठाया भी क्यों? यह तो सौभाग्य ही है कि दोनों अब तक अलग-अलग जगह पर हैं। नहीं तो सुबह-शाम बाल खींचने की नौबत आ जाती। जैसा गाँव, वैसा परिवेश। जैसे माहौल, वैसे ही लोग। मगर तुरंत ही सुभद्रा ने अपने को संयत किया। शांत स्वर में बोलीं-

“आपको तो यह सब अच्छा लग रहा है, पर क्या बेटे भी मानेंगे? क्या समाज इसे स्वीकार करेगा?”

सुभद्रा की यह बात रामकृष्ण बाबू को भीतर तक चुभ गई। जैसे कोई नाज़ुक तंतु अचानक टूट गया हो। उनके मन में झनझनाहट सी उठी और सोचने लगे कि तीनों बेटों के परिवारों के बीच क्या उनकी अपनी कोई जगह है? तीनों की दुनिया अलग-अलग रंगों की है। जैसे पैर की किसी अंगुली में

लगी पुरानी चोट पर फिर से ठोकर लग जाए तो दर्द और बढ़ जाता है, वैसा ही कुछ उनके साथ भी हो रहा था। साहित्य-प्रेमी, सेवानिवृत्त प्रोफेसर रामकृष्ण बाबू के भीतर विचारों का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। उन्हीं क्षणों में उनकी दृष्टि बेटे के बचपन से लेकर अब तक के जीवन पर चली गई। क्या अपने सेवाकाल में कभी कोई कोताही बरती थी? और यह सोचते ही उनकी नज़र पत्नी पर पड़ी- वही पत्नी, जिसने जन्म से अब तक हर मोड़ पर साथ निभाया। तब क्या अब वे स्वयं को ही बहलाकर जी लेंगे? क्या यही न्याय होगा?

इन विचारों के बीच उन्होंने पत्नी से पूछा- "पहले तुम बताओ, क्या कभी तीनों बेटों के पालन-पोषण में कोई भेद किया है?"

जैसे सुभद्रा के होठों पर यह उत्तर पहले से ही तैयार था। उन्होंने तुरंत कहा- "नहीं।"

रामकृष्ण बाबू को लगा जैसे सुभद्रा ने उड़ते कौए की तरह सीधी चोंच मार दी हो- बिना किसी भूमिका, बिना कोमलता के, और एकदम स्पष्ट शब्दों में। उनकी बातों में स्नेह का कोई संकेत नहीं था। इसलिए रामकृष्ण बाबू ने बिना किसी हिचकिचाहट के बात को आगे स्पष्ट करने की ठान ली। बोले- "एक बात पूछूँ?"

जैसे किसी उत्सुक छात्र की तरह उन्होंने सवाल किया, वैसे ही उत्साह से सुभद्रा बोलीं- "एक नहीं, हज़ार पूछिए।"

थोड़ा सँभलते हुए और चेहरे पर मुस्कराहट फैलाते हुए रामकृष्ण बाबू ने पूछा- "किसी चीज़ की छाया का आकार कैसा होता है?"

यह सवाल खुद रामकृष्ण बाबू को भी थोड़ा उलझा हुआ लगा, और पूछने के तुरंत बाद उन्हें इसका अहसास हो गया। पत्नी ने तुरंत उत्तर दिया-

"चीज़ का रंग चाहे जैसा हो, छाया तो काली ही होती है।"

पति-पत्नी के बीच इस तरह के सवाल-जवाब अक्सर होते रहते थे। इसलिए रामकृष्ण बाबू को पत्नी द्वारा बात का रुख बदल देने से कोई असहजता नहीं हुई। थोड़ा पीछे हटते हुए वे बोले- "आप भी तो बात समझने

में बड़ी अजीब हैं। मैंने पूछा ‘आकार’, और आप समझ बैठीं ‘रंग’। सही ही कहते हैं लोग, 'केंदी ने सुना और दो ढेकरियों की प्याज़ समझ ली।'"

‘लाल बुझक्कड़’ जैसी स्थिति होने पर भी सुभद्रा ज़रा भी विचलित नहीं हुईं। यदि होतीं, तो 'लाल बुझक्कड़' और 'काली बुझक्कड़' की नई बहस छिड़ जाती, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। हाँ, ‘दो ढेकरियों की प्याज़’ वाली बात ज़रूर उनके मन में अटक गई। बोलीं-

“क्या कहा? दो ढेकरियों की प्याज़?”

अपनी बात को सँभालते हुए रामकृष्ण बाबू ने कहा-

“किसी चीज़ के आकार का मतलब होता है- उसका ठोस रूप, उसका स्वभाव, उसकी प्रवृत्ति। और रंग तो ऊपर से चढ़ा हुआ होता है।”

पति की बात को भीतर तक महसूस करते हुए सुभद्रा बोलीं-

“कुछ कहना चाह रहे थे, क्या भूल गए?”

"नहीं, क्यों भूलें? वही तो कह रहा था...।"

पत्नी ने कहा-

“कहिए।”

रामकृष्ण बाबू बोले-

“जिस तरह किसी चीज़ की छाया उसका आकार लेती है, उसी तरह बेटा-बेटी की सेवा में भी माँ-बाप का आकार होता है। वैसे भी, 'हरि अनंत, हरि कथा अनंता' -दुनिया में जितने लोग हैं, उतने रंग की ज़िंदगी, और उन्हीं में कुछ लोग तो मौज-मस्ती से जीते हैं।”

रामकृष्ण बाबू की बात सुनकर सुभद्रा के मन की हालत उस घड़े जैसी हो गई, जो पानी से लबालब भरा हो। थोड़ी खीज के साथ बोलीं-

“बिना मतलब क्यों दुनिया के चक्कर में पड़े हुए हैं? पहले अपनी रोटी-नमक की बात सोचिए।”

पत्नी की यह बात सुनकर रामकृष्ण बाबू भीतर से थम गए। यह ठहराव इसलिए आया क्योंकि उन्होंने जीवन भर खुद को दुनिया की धुन में

धुनते हुए ही जिया, इसी से वे दुनिया में जीने के अधिकारी भी बन पाए थे। लेकिन अब वह बात नहीं रही। उनके तीनों बेटे तीन अलग-अलग शहरों में नौकरी करते हैं। तीनों के वेतनमान भिन्न हैं और उनके अपने-अपने परिवार हैं।

यही सोचते-सोचते रामकृष्ण बाबू किसी अज्ञात पीड़ा में डूब गए। जब नज़र उठाकर देखा, तो उन्हें लगा जैसे वे पूरी दुनिया के जंगल में अकेले खड़े हैं और हर ओर पगडंडियाँ ही पगडंडियाँ फैली हुई हैं। पर जब कोई स्पष्ट रास्ता न हो, तो आदमी भटक जाता है। और कभी-कभी पगडंडी में भी आदमी भटक ही जाता है...। पति को चुप देखकर सुभद्रा ने टोका-

"ऐसे ही अगर नमक-रोटी पर भी चुप्पी साध लेंगे, तो फिर...?"

पत्नी के इस तगादे पर भी रामकृष्ण बाबू का मन विचलित नहीं हुआ। कारण यह था कि उन्होंने भीतर ही भीतर यह मान लिया था कि दोनों की ज़िंदगी दो प्राणों के बीच की एक पतली डोर पर टिकी है। और वहाँ बिना एक-दूसरे को विचारशील बनाए, कोई भी निर्णय टिक नहीं सकता।

विचारों की लहर में बहते हुए रामकृष्ण बाबू बोले- "इसीलिए तो बेटे के पास रहने का विचार कर रहा हूँ।"

'बेटे' का नाम सुनते ही सुभद्रा का मन बेचैन हो उठा। बेचैनी इस बात की थी कि बेटे को उन्होंने पाला है, परवरिश का पूरा भार उठाया है, लेकिन अब तीनों बेटा अलग-अलग जगहों पर हैं। धीरे से, अपने भावों को दबाते हुए सुभद्रा बोलीं-

"तीनों तो अलग-अलग जगह पर हैं...।"

पत्नी की यह बात रामकृष्ण बाबू के सीने में जैसे तीर बनकर चुभ गई। चुभन इसलिए हुई क्योंकि उन्होंने कभी भी तीनों बेटों में न तो खाने-पीने में भेद किया, न ही पढ़ाई-लिखाई में। तीनों ने एक जैसी डिग्रियाँ हासिल कीं। फिर भी उनकी ज़िंदगी में इतना जमीन-आसमान का फर्क क्यों आ गया? ऐसा क्यों हुआ? वे पत्नी से बोले- "माथा ठीक से काम नहीं कर रहा। ज़रा एक कप चाय और पिला दो।"

तीनों बेटों की ज़िंदगी पर नज़र डालते हुए रामकृष्ण बाबू को यह स्पष्ट समझ में आया- बड़े बेटे की उन्नति का कारण अच्छी बैंक की नौकरी, बढ़िया तनख़्वाह और कम पारिवारिक ज़िम्मेदारी है। मंझले की स्थिति थोड़ी उलझी हुई है- नयी बैंक, कम तनख़्वाह और बड़ा परिवार।

सबसे छोटे बेटे की दुनिया ही अलग है- सरकारी नौकरी, खजाने का काम और सदा हवाई जहाज में उड़ते रहने की आदत, जैसे वह स्वर्ग और नरक की सैर करता रहता हो। इसी बीच सुभद्रा चाय लेकर आईं।

गर्म चाय सामने रखी थी, लेकिन रामकृष्ण बाबू बिना कुछ बोले चुपचाप पीने लगे। उनके विचार अब किसी एक बिंदु पर जाकर ठहर चुके थे। मन में यह बात बैठ गई थी कि तीनों बेटों की ज़िंदगी में सामंजस्य लाया जा सकता था। फिर ऐसा क्यों हुआ कि सभी ने अपने-अपने परिवार को ही अपनी पूरी दुनिया मान लिया और माँ-बाप से संबंध को केवल औपचारिकता तक सीमित कर दिया? उन्हीं क्षणों में सुभद्रा ने पूछ लिया-

"अब कहिए, मन कैसा लग रहा है?"

थके-हारे मुसाफ़िर की तरह रामकृष्ण बाबू बोले- "अब समझ में आने लगा है। अगर पारिवारिक स्तर को समझते हुए तीनों भाइयों में सामंजस्य बनाया गया होता, तो जो हुआ, वह नहीं होता।"

सुभद्रा ने पूछा-

"तो अब...?"

रामकृष्ण बाबू ने कहा-

"अब तो यही है कि अगर बेटा माँ-बाप को समझे, उन्हें परिवार का हिस्सा माने और उनसे संबंध बनाए रखे, तो भी बड़ी बात है। और अगर न रखे, तब भी कोई शिकायत नहीं। समाज ने तो भिखारी को भी जीने का हक़ दिया है। अंत में सब समझ आ ही जाएगा। मगर अब गाँव छोड़कर कहीं बाहर नहीं जाऊँगा।" ❑

8

दरवाज़े की चौकी पर बैठे रामकृष्ण बाबू अपनी आगे की ज़िंदगी को लेकर गहरे सोच में डूबे थे। मन में सवाल था कि अब जीवन कैसे जिएँ। कभी उनका मन किसी अनजानी दिशा में बह निकलता, तो कभी ठहरकर यथार्थ की ज़मीन पर लौट आता। उन्हें अब भी कोई स्पष्ट और सीधा रास्ता नहीं दिख रहा था।

इसी उलझन के बीच उनके मन की खिड़की से संकल्प का एक झोंका आया। उन्हें याद आया कि उनके तीन बेटे हैं, लेकिन तीनों अलग-अलग शहरों में रहते हैं। तीनों की ज़िंदगियाँ–आय, पद, और प्रतिष्ठा–एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। ऐसे में अगर वे किसी एक बेटे के पास जाकर रहने लगें, तो वहाँ पराएपन का अनुभव होना स्वाभाविक है। यह परायापन और भी गहरा इस कारण होगा क्योंकि भाई-बहनों के बीच जो जन्मजात स्नेह की कोमल डोर होती है, वह समय और परिस्थितियों के साथ ढीली पड़ जाती है। भले ही सगी बहन माँ दुर्गा जैसी लगे, लेकिन जब वही बहन ससुराल से लौटती है, तो उसका स्वर, व्यवहार और दृष्टिकोण बदल चुका होता है। वह कई रंगों में मन को उलझा देती है।

विचारों की यह श्रृंखला आगे बढ़ती है। अब रामकृष्ण बाबू की दृष्टि पूरे परिवार-प्रणाली पर जाती है, न केवल अपने बेटों पर बल्कि समाज के अन्य परिवारों पर भी। उन्हें यह पारिवारिक ढाँचा एक विचित्र बुनावट जैसा लगता है। जब दो अलग-अलग परिवारों से आए स्त्री-पुरुष विवाह के बंधन में बँधते हैं, तब एक नया परिवार जन्म लेता है। इस नए परिवार में दो अलग संस्कार, दो सोचें और दो जीवन-दृष्टियाँ मिलती हैं। कभी ये विचार मेल खाते

हैं, जिससे सहजीवन सरल हो जाता है। कभी वे टकराते हैं, जिससे तनाव पैदा होता है। अर्थात् यदि भाषा, सोच और दृष्टिकोण में समानता हो, तो जीवन अधिक सहज और संतुलित होता है।

रामकृष्ण बाबू का मन फिर लौट आता है अपने बेटों और बहुओं की ओर। तीनों सगे भाई हैं, फिर भी तीनों की ज़िंदगियाँ कितनी अलग हैं। बहुएँ भी, जिनसे पारिवारिक सौहार्द और समरसता की अपेक्षा थी, वह भावना कहीं दिखाई नहीं देती। क्यों ऐसा हुआ? क्यों तीनों भाई आपस में इतना भी मेल नहीं रख सके कि लगे, वे एक ही माँ-बाप की संतान हैं? जबकि तीनों को समान शिक्षा और एक जैसे संस्कार दिए गए थे। फिर भी यह दूरी कैसे बन गई?

उन्हें लगता है कि आज का सामाजिक ढाँचा टूट-टूटकर विकृत होता जा रहा है। शायद यही कारण है कि तीनों बेटों को पढ़ाने का फैसला अब उन्हें बोझ-सा लगने लगा है। उस समय यह सोचकर उन्हें पढ़ाया था कि बेटों को सक्षम और विचारशील बनाना है, लेकिन अब लगता है कि कोई भी अपने आप विचारशील नहीं बनता। भाईचारे के रिश्ते केवल जैविक नहीं, आत्मिक भी होने चाहिए। माता-पिता की चिंता भी स्वाभाविक मानी जानी चाहिए। सोचने के लिए भले ही हज़ार रास्ते हों, लेकिन अपनाने के लिए शायद एक भी नहीं मिलता। उन्होंने पत्नी को पुकारते हुए पूछा-

"तुम्हें मुझसे चाय-पान का भी अब कोई स्नेह नहीं बचा क्या?"

सुभद्रा उस समय बर्तन धो रही थीं। आँखों पर कालिख थी, हाथों में कालिख थी, ऐसे में उनका मन भी मानो कालिख-सा हो गया था। उत्तर देते हुए वह बोलीं-

"बहत्तर हाथ की अँतरी होता है पुरुष को, और सिनेही होती है महिला।"

हालाँकि रामकृष्ण बाबू का संकेत सुभद्रा समझ गईं। उन्होंने सारे काम छोड़ दिए, केतली चढ़ाई और चाय बनाकर कप में डाल पति के पास पहुँचीं। जैसे ही गरम चाय से उठती भाप की ओर रामकृष्ण बाबू की नज़र

गई, उनकी दृष्टि सुभद्रा के चेहरे से होती हुई परिवार के मूल संस्कारों तक जा पहुँची। और संस्कारों तक पहुँचना, मानो उस वृक्ष की उस शाखा तक पहुँचना है जहाँ से हर डाली की जड़ दिखाई देती है। वह जड़ ही तो है जो पूरे परिवार को जीवंत बनाए रखती है...। जैसे किसी घुमावदार मोड़ पर अचानक 'भक्' की आवाज़ हो और फिर सन्नाटा छा जाए, ठीक वैसे ही रामकृष्ण बाबू के भीतर भी कुछ टूट गया। उस भीतरी टूटन के साथ उन्होंने पत्नी से कहा-

"जिस दिन से हम दोनों एक साथ हुए हैं, उस दिन से कितने ही धूप-छाँव आए। लेकिन जैसे दो जीव एक प्राण बनकर साथ जीते आए हैं, उसी विश्वास के साथ आगे भी साथ चलेंगे।"

भोर की उखड़ी हुई हवा और फिर दोनों का साथ बैठकर चाय पीना, इसके बाद मन उसी तरह शिथिल हो गया जैसे वर्षा के बाद ज़मीन नरम हो जाती है। सुभद्रा के मन में भी एक प्रकार की शांति छा गई, लेकिन भीतर ही भीतर एक टीस उठी। टीस इस बात की कि बहू के रहते हुए भी उन्हें अपने हाथों से काम करने पड़ते हैं। और साथ ही एक और कसक भी थी, अब घर पर राज बहू-बेटे का है, सास-ससुर को तो बस मुँह ताकते रहना है। जहाँ कभी उन्होंने खुले मन से खाया-पिया था, अब वहाँ दूसरों की मर्ज़ी से रहना पड़ रहा है। क्या यह परिस्थिति सहज रूप से स्वीकार की जा सकती है?

इन द्वंद्वों में सुभद्रा का मन उलझने लगा। जैसे किसी धूलभरे रास्ते पर धुंध छा जाए और आगे-पीछे कुछ भी स्पष्ट न दिखे, वैसे ही उनकी दृष्टि दिशाहीन हो गई।

उधर, रामकृष्ण बाबू भी अपनी दोहरी ज़िंदगी की दुविधा में फँसे हुए थे। यह बिल्कुल स्वाभाविक था। जैसे धरती और आकाश के बीच क्षितिज एक ऐसी सीमा बनाता है जो दोनों को जोड़ते हुए भी अलग करता है, वैसे ही दो धाराओं के बीच बहता हुआ व्यक्ति भी निरंतर टकराव में रहता है। वहाँ भी तीन तरह की धाराएँ होती हैं, पहाड़ से निकली नदी, जो पूरे वर्ष

बहती है; बरसाती नदी, जो कुछ समय बहती है और फिर सूख जाती है; और तीसरी, हिमनदी, जो अपनी ठंडी और मंथर गति से बहती रहती है। यदि इस हिमधारा की गति तेज न हो, तो वह न केवल बीच की धारा को रोक सकती है, बल्कि स्वयं भी छिन्न-भिन्न हो सकती है। यही कारण है कि जो धाराएँ अपने भीतर ही सिमट जाती हैं, वे अंततः सूख जाती हैं।

इन्हीं विचारों की लहरों में बहते हुए रामकृष्ण बाबू का मन भी असमंजस में डूबने लगा। जैसे कोई नाविक सोच रहा हो कि अब किस घाट पर रुके जहाँ से जीवन की अगली यात्रा पार की जा सके। तभी एक विचार कौंधा, अब तक जीवन को गढ़ने में पत्नी साथ रही है, तो क्यों न आगे की यात्रा में भी उसकी सलाह ले ली जाए? कहीं ऐसा न हो कि अकेले निर्णय लेकर कोई भूल हो जाए और फिर जीवनभर पछताना पड़े। आखिर-

"मिलकर करें काम, चाहे हारें या जीतें, कोई लाज नहीं।"

इस विचार ने रामकृष्ण बाबू के मन को कुछ हरियाली दी, एक हल्का-सा सुकून मिला। तभी उन्होंने पत्नी से कहा-

"आप भी देख रही हैं और समझ भी रही हैं कि ये महाविद्यालय जैसे संस्थान, जो कभी ज्ञान के मंदिर हुआ करते थे, अब रिटायरमेंट की दहलीज़ पर आकर ज़िंदगी को आधे रास्ते में ही तोड़ चुके हैं।

जब तक शरीर में ताक़त है और पौष्टिक भोजन मिलता रहेगा, तब तक कुछ दिन और जीना संभव है। खर्च ज़रूर बढ़ेगा, लेकिन यह खर्च ज़रूरी भी है।

उम्र बढ़ने पर शरीर जवाब देने लगता है, और साथ ही रोग-व्याधियाँ भी घेरने लगती हैं। ऊपर से समय ऐसा आ गया है कि 'साथ ही वैद्य भी फिर मर जाते हैं' जैसी कहावतें अब सच लगने लगी हैं।

जितना आधुनिक इलाज है, उतना ही वह महँगा भी है। आपने तो हमेशा घर को संभाला है। मैं तो कभी इस घर को समझ ही नहीं पाया। इसलिए अब अपनी ज़िंदगी की डोर आपके ही हाथों में सौंप रहा हूँ..।"

तीर्थ, धर्म या कर्म की यात्रा से थका-हारा कोई यात्री जब पाँवों में

छाले लिए घर लौटता है, तो घर-परिवार का स्नेह उसके लिए संजीवनी बन जाता है। ठीक वैसे ही स्नेहमयी भावना सुभद्रा के मन में भी जाग उठी। जाग उठा उनके माथे पर सजे सिंदूर का अर्थ, कि जब तक पति जीवित हैं, वे सती-पत्नी कहलाएँगी; लेकिन जिस दिन पति उन्हें छोड़ देंगे, उसी दिन समाज उन्हें विधवा मानने लगेगा। और उस पल से उनकी जीवन-यात्रा भी अपशकुन मानी जाएगी। तब क्या होगा? तब तो जीवन उस कटे हुए वृक्ष की छाया जैसा हो जाएगा, जिसके नीचे खड़े होकर कोई राहत नहीं पा सकता। इसी कल्पना से सुभद्रा एक क्षण के लिए सहम-सी गईं।

कुछ देर मौन रहने के बाद, जैसे भीतर कोई कुहकता पक्षी बोल पड़ा हो, उन्होंने पूछा-

"आपका मन क्या कहता है?"

'अपना मन' -यह शब्द सुनते ही रामकृष्ण बाबू का हृदय जैसे अमराई की तरह झूम उठा। जैसे पहाड़ से उतरी जलधारा उमड़ती, बल खाती बहती हो, वैसे ही उनके भीतर विचारों की बाढ़-सी आ गई। कभी गोल-गोल घूमती, तो कभी चारों ओर बिखरती हुई। उनका मन अब उस क्षीण होती धार जैसा लगने लगा था, जो जीवन की गति के आगे फीकी पड़ने लगी थी। गर्माहट भरी साँस लेते हुए रामकृष्ण बाबू बोले-

"अब तक की ज़िंदगी एकरूपी रही, एक ही दिशा में बहती रही। उसी की आदत सी पड़ गई थी। लेकिन ज़िंदगी तो बहुरूपी है। तभी तो कभी-कभी किसी नई राह के मोड़ को पकड़ना भी ज़रूरी हो जाता है। अब यह कर पाना मुश्किल लग रहा है... ऐसा नहीं?"

पति की बात सुनकर सुभद्रा की आत्मा में एक गहरी हलचल उठी। उन्हें सहसा यह अहसास हुआ कि उनके संपूर्ण जीवन का आधार तो पति की कमाई ही रही है। यदि वही आधार डोलने लगे, तो उनका संतुलन भी हिल जाएगा। लेकिन यह सोचते ही उनका मन बदल गया। बदला इसलिए कि पति सिर्फ एक आम पुरुष नहीं, बल्कि उनके जीवनसाथी हैं, जिनमें कुछ विशेष है, जो उन्हें औरों से अलग बनाता है।

जब तक वृक्ष में पत्तियाँ न हों, तब तक उससे संवाद की अपेक्षा ही व्यर्थ होती है। कमाई भले ही अब समाप्त हो गई हो, पेंशन ने उसकी मात्रा घटा दी हो, फिर भी जितना मिल रहा है, उतना भी बहुतों को नहीं मिलता। ऐसे भी लोग हैं जो इससे कम आमदनी में अपने से बड़े परिवारों का निर्वाह करते हैं। ऐसे में यदि कोई स्वयं को निर्बल और असहाय समझने लगे, तो यह केवल मन की दुर्बलता का भ्रमजाल होगा।

तो फिर क्यों अकारण मन में आशंकाएँ पाली जाएँ, कि यह रोग हो जाएगा, वह बीमारी आ जाएगी, और फिर दवाओं पर भारी खर्च होगा? इस बात की तो कोई गारंटी भी नहीं कि ऐसा कुछ होगा ही।

अरे, यह तो नाहक मन का टूटना है। वृद्धावस्था में यदि संतुलित और सरल भोजन मिल जाए, तो वही सबसे बड़ी औषधि है। इसके लिए महँगे खाद्य पदार्थों की आवश्यकता नहीं होती। यह तो आधुनिक जीवनशैली का फैशन है, जिसमें वस्तुओं को अनावश्यक महँगी बनाकर उन्हें प्रतिष्ठा का प्रतीक बना दिया गया है।

किसी वस्तु का मूल्य अधिक है या कम, यह तो बाज़ार और व्यापारियों की चालाकी है, जो समाज में 'काल' बनकर खड़ी है। जो वस्तु कम हो, उसका मूल्य बढ़ा दिया जाता है, और जो अधिक हो, उसका घटा दिया जाता है, ताकि उपभोक्ता की जेब से अधिक धन निकाला जा सके। लेकिन इन बाज़ारू चालबाज़ियों का पौष्टिकता से कोई लेना-देना नहीं है।

फिर भी हम उस समाज में रहते हैं जहाँ किसी ज़रूरतमंद को कोई पूछता भी नहीं। आम अगर ज़्यादा लगते हैं, तो कभी-कभी कौए आ जाते हैं, पर अब तो 'खरा कौआ' नहीं, बल्कि 'कार-कौआ' आ गया है। वह ऐसा शहरी शिकारी है जो केवल फलों को ही नहीं, पूरे पेड़ को नोच-नोचकर सुखा देने की ताक़त रखता है।

विचारों में डूबी सुभद्रा के मन में जैसे धीरे-धीरे सूर्य की किरणें अंधकार को चीरती हुई प्रवेश करती हैं और संध्या का आभास देती हैं, वैसे ही उनके अंतर्मन में पति-पत्नी के संबंधों की एक सांध्य-बेला उतर आई।

यह बोध जागा कि उनमें आज भी इतनी शक्ति है कि जैसे अब तक बिना थके रसोई, घर-गृहस्थी और छोटे-बड़े सभी कार्यों को निपटाती रही हैं, वैसे ही आगे भी करती रहेंगी।

तो फिर पति के दुखी मन को और क्यों व्यथित किया जाए? धीरे से बोलीं-

"आप तो बस पुरुषों का खेल खेल रहे हैं।"

पत्नी की इस बात ने रामकृष्ण बाबू के हृदय को जैसे कांटों की चुभन से नहीं, बल्कि राम के पुष्पवाणों की तीव्रता से छलनी कर दिया। वह केवल शिक्षक पद से सेवा-निवृत्त व्यक्ति नहीं है, बल्कि एक साहित्यप्रेमी रचनाकार भी हैं। एक ऐसा सर्जक, जिसे समाज की आत्मा को गढ़ने का उत्तरदायित्व मिला है। लेकिन जब वही आत्म-निर्माता अपने भीतर के 'व्यक्ति' को नहीं गढ़ सका, तो फिर वह सर्जक कैसे कहलाए? जिस समाज की आत्मा को सजीव बनाना है, यदि उसी की बुनियाद खोखली हो जाए, तो सृजन का उद्देश्य ही क्या रह जाता है?

रामकृष्ण बाबू के भीतर जैसे एक साथ सैकड़ों पुष्पवाण बिखर गए। उनकी दृष्टि सुभद्रा के उस एक वाक्य पर टिक गई- 'पुरुषों का खेल'। क्या यही है पुरुष का खेल? केवल खेलते रहना? यदि यह बात किसी और के मुँह से आती, तो शायद अनसुनी कर देते। लेकिन यह तो उनकी अपनी जीवनसंगिनी के शब्द है।

तभी उनके मन में एक विचार उठा। बोलने वाला तो अपनी ही परछाई को देखने नहीं देता। अगर यह पुरुषों का खेल है, तो फिर पुरुषों के इस समूह में नारी की उपस्थिति कहाँ है?

मन में एक चक्रवात उठ खड़ा हुआ। 'पुरुषों का खेल' -लेकिन यह दुनिया तो नारी और पुरुष की साझेदारी से बनी है। फिर यह तो कुम्हार के चाक की तरह लगता है, जो केवल एक ही की धुरी पर टिका है, एकतरफा घूमता हुआ।

रामकृष्ण बाबू का मन असमंजस में पड़ गया। विचारों का जंगल घने

अंधकार में खो गया, और वाणी जैसे ठहर गई। लेकिन सुभद्रा, जो अब भी उत्तर की प्रतीक्षा में थीं, उन्हें लगातार देखती रहीं। उनकी निगाहों में आग्रह था, और विनम्रता भी।

कुछ देर बाद, जब ठहरे हुए विचार फिर गति पकड़ने लगे, तो रामकृष्ण बाबू को लगा- 'पुरुषों का खेल'। पर क्या पुरुषत्व का निर्धारण केवल लिंग से होता है? नहीं। वह तो मनुष्यता से होता है। पुरुषत्व कोई स्थायी गुण नहीं है, बल्कि एक भाव है, जो स्त्री और पुरुष दोनों में विद्यमान होता है। जहाँ किसी पुरुष में वह भाव कम होता है, वहाँ वह स्त्रीत्व की ओर अग्रसर हो जाता है। और जहाँ किसी स्त्री में वही भाव अधिक होता है, वहाँ वह पुरुषों से भी अधिक पौरुष से भर जाती है।

जितना वे इस विचार की गहराई में उतरना चाहते थे, उतना ही वे अपने ही भीतर की अनंत गहराइयों में बहते चले जा रहे थे। वे अपने ही विचारों के बोझ से दबे जा रहे थे। तभी सुभद्रा ने धीरे से पूछा-

"क्या हुआ? मन क्यों उदास है?"

स्वयं को संयमित करते हुए रामकृष्ण बाबू बोले-

"मन उदास नहीं है, बस सोच में थोड़ा झुकाव आ गया है।"

फिर जैसे पूरे जीवन की परतें पलटती चली गईं, सुभद्रा बोलीं-

"यूँ ही बेवजह दु:ख-तकलीफ को मन में बैठा लिया है। जिनके लिए काम किया, उन्हें ही समर्पित किया, किसी और के लिए थोड़े किया था। अब थोड़ी-बहुत समझदारी दिखाइए, होश में आइए। बिना कुछ किए आधा वेतन तो मिल ही रहा है। दिन-रात की आज़ादी मिलेगी। थोड़ी-थोड़ी सूझबूझ से भी बहुत कुछ हासिल किया जा सकता है।"

रामकृष्ण बाबू हल्की मुस्कान के साथ बोले-

"हाँ, जिसके लिए खेला, उसी के लिए तो खेला..।"

जिस प्रकार कोई वाहन चालक साल भर के बाद अगली यात्रा के लिए ड्राइविंग लाइसेंस का नवीनीकरण कराता है और उसके उपरांत मन में

एक ताजगी और आश्वस्ति का भाव जागता है, वैसी ही आंतरिक प्रसन्नता सुभद्रा के चेहरे पर झलकने लगी। उनका मुखमंडल जैसे खिल उठा। लेकिन वहीं रामकृष्ण बाबू के चेहरे की रोशनी धीरे-धीरे मलिन पड़ने लगी। उन्हें बोलने का अवसर तो मिल गया, पर उसके बाद वे आत्ममंथन की स्थिति में पहुँच गए।

उन्हें लगा-

"जिसके लिए खेले, उसी के लिए खेला, लेकिन अब वैसा नहीं होगा। अब तो स्वयं को ही संभालना होगा। जब तक कार्यरत रहे, तब तक काम में जुटे रहे, समय के पहिए के साथ घूमते रहे। मगर अब वह चक्र भी थम जाएगा। एक जीवन का अध्याय समाप्त होगा और एक नया आरंभ होगा। और उसमें भी, मिट्टी के घर से ईंट के घर की ओर बढ़ने के लिए पुराने घर की नींव को तोड़ना ही पड़ता है। पर कुछ आत्माएँ ऐसी होती हैं जो नए घरों में भी पूर्वजों की स्मृति बनकर बस जाती हैं, घर की आत्मा बनकर। घर यदि न भी रहे, तो घराड़ी तो बनी रहती है...।"

रामकृष्ण बाबू के भीतर विचारों का द्वार खुल गया। यह खुलासा हुआ कि अब तक का जीवन पठन-पाठन में बीता है, तो स्वाभाविक है कि मन यही चाहेगा कि मृत्यु तक इसी में लगे रहें।

लेकिन ठीक उसी समय जैसे किसी सड़क पर तीखा मोड़ आता है, वैसे ही उनकी चेतना में एक झटका-सा आया। लगा कि वर्षों तक पठन-पाठन करते रहे, लेकिन अब वह कैसे संभव होगा? पढ़ने की सामग्री तो जुटा सकते हैं, पर पाठन–अर्थात् शिक्षण–कैसे करेंगे? अब तक विद्यालय से जुड़े रहे, न रेडियो स्टेशन से कोई संबंध बना, न गाँव की किसी साहित्यिक संस्था से। ऐसे में मंच कहाँ मिलेगा? और छात्र भी तो अब साथ नहीं रहे!

यह विचार आते ही उनका मन उसी पुराने रास्ते की ओर लौटने लगा- पीछे की दिशा में आगे बढ़ने लगा। पाठन की ही बात क्या करें, अब तो पठन भी बदल जाएगा। इतने वर्षों तक विद्यार्थियों के लिए पढ़ते रहे, अपने लिए कम। अब परिस्थिति उलट है। अब कम काम है। अब खुद को विद्यार्थी

मानकर, अपने लिए पढ़ना है।

यह सोचते ही पुस्तकालय की स्मृति कौंधी। मन में हूक-सी उठी-

"हाय! वह भी छिन गया। गाँव में अब पुस्तकालय कहाँ है? किताबें कहाँ से आएँगी? और जब किताबें ही न हों, तो पढ़ेंगे क्या?"

उनकी नज़र अपनी किताबों की ओर गई। इतने वर्षों तक पठन-पाठन का जीवन जीने के बाद भी क्या एक निजी पुस्तकालय तक न बना सके? मन आगे बढ़ा, लेकिन तभी पीछे से एक और सोच ने उसे रोका-

"अपने पास भी तो रचनाशीलता है। जीवन भर पढ़ते-पढ़ाते रहे हैं। बाहर की दुनिया को देखा है, जाना और समझा भी है। फिर किताबों की कमी क्यों खलती है?"

मन ने मान लिया कि अब शेष जीवन पठन-पाठन में ही बिताना है।

धीरे-धीरे मन स्थिर होने लगा- लेकिन रुकते हुए एक और विचार आकर उसे रोक गया। "अगर सृजन करेंगे, साहित्य लिखेंगे, तो उसे प्रकाशित कैसे करेंगे? यदि लिखा और वह छप नहीं सका, तो वह घर में ही सड़ जाएगा। उसका कोई मूल्य नहीं रह जाएगा। लिखना तो आसान है, लेकिन जब तक आज से ही नियमित दिनचर्या बनाकर पढ़ने-लिखने का समय सुनिश्चित न कर लिया जाए, यह जीवन का अंग नहीं बन सकेगा।"

परंतु कोई स्पष्ट दिशा सामने नहीं दिख रही थी। रास्ता या तो टेढ़ा-मेढ़ा है, या धुँधला और छिपा हुआ, या फिर पूरी तरह अवरुद्ध। आज के समय में पुस्तक प्रकाशित कराना अपेक्षाकृत सरल हो गया है। इसके दो मुख्य कारण हैं, तकनीकी प्रगति और आर्थिक विकास। लेकिन यह परिवर्तन तो केवल पिछले पाँच वर्षों में आया है। उससे पहले तक एक पुस्तक छपवाना एक बड़ी चुनौती हुआ करती थी। यही कारण है कि मिथिलांचल की हज़ारों अमूल्य साहित्यिक कृतियाँ समय की भीड़ में गुम हो गईं।

रामकृष्ण बाबू मन-ही-मन सोचने लगे कि अब पेंशन ही जीवन का आधार है। वेतन समाप्त हो चुका है। बेटों में से किसी ने यह तक नहीं पूछा

कि- "बाबू, कौन-सी किताब चाहिए?”

बिस्कुट के साथ बेटे-बेटियों की ओर दृष्टि गई तो उन्हें बड़े बेटे की कही एक बात याद आ गई। "बाबू, हम तो अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़े हैं, लेकिन गीता पढ़ने की इच्छा बार-बार होती है। वह संस्कृत में है। आप उसे मैथिली में ही लिख दीजिए, ताकि सब उसे आसानी से पढ़ सकें और पढ़ने लगें।”

यह याद आते ही रामकृष्ण बाबू के मन में एक नई ऊर्जा जागी। उन्होंने सोचा, अब वह बेटा बैंक में मैनेजर है। अपने बच्चों की ज़िम्मेदारी भी पूरी कर चुका है। यदि वह आर्थिक सहायता कर दे, तो पुस्तक छपवाना कोई कठिन काम नहीं रहेगा।

लेकिन साथ ही एक दूसरी चिंता भी उभरी। उन्होंने सोचा-

“इस बात को दस साल हो गए जब बेटे ने गीता का ज़िक्र किया था, जब उसने उसकी माँग की थी। क्या वह काम मैं पूरा कर पाया? वैसे तो पंक्तियाँ पढ़कर भाषा बदल ही दूँगा, लेकिन क्या मेरा अंतर्मन यह स्वीकार करेगा?”

गीता के नृत्य-कृत्य की कल्पना मात्र से रामकृष्ण बाबू आत्म-प्रभा से सराबोर हो उठे। खापैड़ की धान के साथ-साथ उनका मन भी खापैड़ के तीसी की तरह खनखना उठा। कृष्ण और गोपियों की रासलीला, जो थके-हारे ब्रजवासियों के जीवन में रची-बसी थी, उनकी आँखों में तैरने लगी। लेकिन वे ठिठक गए। उनकी अपनी ज़िंदगी कैसी रही? क्या उनकी कलम में कभी वह धार थी, जो होनी चाहिए थी?

उम्र भर उन्होंने घर से बाहर एक गुरु की तरह काम किया, लेकिन सेवा का सच्चा अवसर कभी मिला ही नहीं। ऐसे में, बेटे की आकांक्षाएँ मेरे बूते कैसे पूरी होतीं?

रामकृष्ण बाबू का मन जैसे ठहर गया। कुछ देर तक सब कुछ स्थिर रहा, फिर विचारों की एक नई लहर उठी। उन्होंने सोचा-

“क्यों न बेटे की परीक्षा ही ले ली जाए? क्यों न मैं ही पहल करूँ और उससे कहूँ- ‘बौआ, अब तो कॉलेज से भी नीचे उतर आए हैं। यदि तू पुस्तक

छपवाने का भार उठा ले, तो दो-तीन संग्रह तैयार हैं ही, और गीता की जो बात तूने कही थी, उस पर भी काम शुरू कर देंगे।' बेटा कुछ तो कहेगा ही, जिससे आगे की योजना बन सकती है।"

योजना बनते ही उनका मन फिर गीता की ओर मुड़ गया। गीता से डरने की कोई ज़रूरत नहीं, वह तो जीवन देती है, जन्म-जन्मांतर का मार्ग दिखाती है। रामकृष्ण बाबू का मन उमंग से भर उठा। उत्साह में उन्होंने बेटे की शिक्षा की ओर ध्यान दिया, वह अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़ा है, गीता संस्कृत में है। दोनों की भाषाएँ अलग हैं, लिपियाँ अलग, शब्द-विन्यास और उच्चारण भी भिन्न हैं। निश्चित रूप से यह कार्य चुनौतीपूर्ण होगा। लेकिन मैथिली तो अपनी मातृभाषा है, जिसे बिना पढ़े-लिखे भी लोग सहज रूप से आत्मसात कर लेते हैं। अतः जब बेटे ने गीता के मैथिली अनुवाद की माँग की थी, तो उसने ठीक ही सोचा था।

लेकिन फिर एक और सोच उभरी- काम, आखिर काम होता है। गीता जैसा महान विषय कोई तुकबंदी की कविता नहीं, जिसे राह चलते ही गढ़ लिया जाए। इसके लिए तो कैलकुलेटर जैसी गणना चाहिए, संयम, अनुशासन और दृष्टिकोण की स्पष्टता चाहिए। यह थोड़े ही कि झाड़ी-पत्तों के बीच अमृतफल उग आए। वहाँ तो सीधा, गहरा और मजबूत वृक्ष लगाना पड़ेगा, तभी फल मिल सकेगा।

रामकृष्ण बाबू का संतप्त मन, थके हुए यात्री की तरह थक चुका था। उन्हें लगा कि वे खुद भी अनावश्यक उलझनों में पड़ते जा रहे हैं। उन्होंने निश्चय किया कि जो होगा, देखा जाएगा। पहले भगवान का नाम लेकर राम-काज में हाथ लगाना चाहिए।

इस थके हुए मन में एक विचार और उठा-

"कृष्ण ने गीता में ठीक ही तो कहा है, कर्म करते रहो, फल की इच्छा में मत उलझो। यही तो उनका उपदेश है। अगर वे आज होते, तो शायद यही कहते कि आम का बीज बोओगे, तो आम मिलेगा; बबूल रोपोगे, तो काँटे। और फिर मुस्कराते हुए कहीं आगे बढ़ जाते, किसी हँसी-ठिठोली में रुके

बिना...।"

रामकृष्ण बाबू का मन एक बार फिर पीछे की ओर लौट गया। जैसे महाभारत की रणभूमि में किसी वीर का रथ किसी और के तीर से हल्का-सा पीछे खिसक जाता है, वैसे ही उनका विचार भी अतीत की ओर झुक गया। भीतर एक सुखद हिलोर उठी। मुस्कराते हुए उन्होंने पत्नी से कहा-

"आने वाले जीवन की पूरी बही-खतियान का नक्शा अब मन में बन चुका है।"

लेकिन उनकी बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि सुभद्रा बीच में टोक बैठीं-

"बही-खतियान क्या?"

रामकृष्ण बाबू ने मुस्कराकर कहा-

"वही तो कह रहा हूँ, सुनो...।"

'सुनो' कहकर उन्होंने सुभद्रा की आँखों में आँखें डालते हुए कहा-

"जैसे तुम अब तक गृहिणी बनकर हर दिन घर-गृहस्थी संभालती रही हो, वैसे ही आगे की ज़िम्मेदारी भी अब तुम्हारे हिस्से की हुई।"

'ज़िम्मेदारी' शब्द सुनते ही सुभद्रा थोड़ी चिढ़कर बोल उठीं-

"और आपकी ज़िम्मेदारी क्या होगी?"

रामकृष्ण बाबू हँसते हुए बोले-

"वही जो कुश अमावस्या के दिन उखाड़े गए कुशों की गठरी होती है। राम-धान की तरह, जो किसी-न-किसी रूप में फिर जीवन में जुड़ ही जाती है।" ❑

9 'क'

धीरेन्द्र का गाँव कृष्णपुर और रामकृष्ण बाबू का गाँव रामपुर, दोनों एकबधू गाँव हैं। एकबधू का अर्थ है कि इन दोनों के बीच कोई तीसरा गाँव नहीं पड़ता; केवल जोत-सीम की ज़मीन की एक पट्टी है, जो बाध की तरह बीच में फैली हुई है। पश्चिम में रामपुर स्थित है और पूर्व में कृष्णपुर।

इन दो गाँवों के बीच पड़ोस का संबंध तो है ही, साथ ही पूर्वकाल से चले आ रहे अन्य संबंधों में कृष्णपुर की सांस्कृतिक सक्रियता का योगदान भी उल्लेखनीय है। जब दोनों गाँवों के पशु चराने वाले, खेतों में हल चलाने वाले, बोआई-कटाई करने वाले किसान रोज़ खेतों के रास्ते आमने-सामने होते रहे हों, तो व्यक्तिगत स्तर पर संबंध वर्षों से बने रहना स्वाभाविक है। ये दोनों गाँव ऊँचाई पर बसे हुए हैं, किसी नदी के किनारे नहीं; इसलिए यहाँ का निवास प्राचीन समय से चला आ रहा है।

सांस्कृतिक आयोजन के बाद जैसे धीरेन्द्र की उत्सुकता रामकृष्ण बाबू के प्रति जगी, वैसे ही रामकृष्ण बाबू की जिज्ञासा भी धीरेन्द्र के लिए बढ़ी। भले ही वे अपने मन की बात किसी से न कहें, लेकिन दोनों के बीच कुशलक्षेम की बातचीत बढ़ती चली गई। इस संबंध को प्रगाढ़ बनाने में कृष्णपुर के 'सिनुरिया' का विशेष योगदान रहा।

सिनुरिया का असली नाम उनके माता-पिता ने 'श्याम सुंदर' रखा था, लेकिन व्यक्ति अपने कर्म और स्वभाव से एक नया नाम प्राप्त कर ही लेता है। सिनुरिया एक कर्मठ व्यापारी हैं, साथ ही व्यापार की बारीकियों को भी भलीभाँति समझते हैं। पिछले पैंतीस वर्षों से वे हरदी, मिर्च, धनिया और लहसुन जैसे मसालों का व्यापार कर रहे हैं। हर सुबह चार बजे साइकिल

लेकर 'हरदी-मिर्च-धनिया-लसुन' की आवाज़ लगाते हुए वे चारों दिशाओं के गाँवों की ओर निकल पड़ते हैं। रास्ते में जहाँ कहीं भी दादी, काकी, या भौजी पुकारती हैं, वहीं रुकते हैं। आँगन-आँगन घूमते हैं, हालचाल लेते हैं, मसाले बेचते हैं और दोपहर बारह बजे तक अपने गाँव लौट आते हैं। इसी व्यापार यात्रा के माध्यम से रामकृष्ण बाबू और धीरेन्द्र के बीच समाचारों का आदान-प्रदान होता रहा, जिससे उनका व्यवहारिक संबंध भी गहराता गया।

एक दिन सुबह धीरेन्द्र नींद से उठे ही थे कि दरवाज़े पर सिनुरिया की आवाज़ गूंजी-

"धीरेन्द्र बाबू हैं? ओ धीरेन्द्र बाबू!"

आँखें मीचते हुए धीरेन्द्र ओसारे में पहुँचे। सिनुरिया अपनी साइकिल पर ही खड़े थे और बोले-

"रामकृष्ण बाबू हालचाल पूछ रहे थे।"

एक तो यह भोर का समय, ऊपर से अभी-अभी बिस्तर छोड़ा था। फिर, रामकृष्ण बाबू की खबर सुनकर अगर मेहमान को चाय-पानी के लिए न रोका जाए, तो वह भी कैसा आतिथ्य! लेकिन सिनुरिया के पास समय कहाँ। वे अपने व्यापार के अनुशासन से बँधे हुए व्यक्ति हैं। उन्हें भली-भाँति मालूम है कि सुबह-सुबह की आवाजाही, व्यापारी के लिए कमाई का सबसे उपयुक्त समय होती है।

पर आखिर अपने कर्म की रेखा तो आदमी खुद ही खींचता है। कलम घिसेगा तो उंगली घिसेगी ही, और फावड़ा चलाएगा तो हथेली का चमड़ा झुलसेगा। यही तो जीवन की सच्चाई है।

सिनुरिया पूरे इलाके में घर-घर की लक्ष्मी-पात्र बनकर कारोबार करते हैं। वैसे, उन्होंने अपने लिए यह नीति बना रखी है कि यदि पहले ग्राहक से एक पाई भी न कमाए हों, तो भी दिन को शुभ मानते हैं। और यदि पहली ही बिक्री से हाथ चिक्कन हो जाए, तो वह दिन मानो सोने में सुगंध हो जाता है। व्यापारी के लिए नकद या उधार का दिन नहीं होता, असली बात है बिक्री, वही व्यापार की आत्मा है।

अपने इसी चारिकोसी गाँव की सेवा करते-करते, सिनुरिया ने अपने दोनों बेटों को बी.ए. पास कराकर शिक्षक बना दिया है। यह उनके परिश्रम और ईमानदार व्यापार की कमाई का प्रतिफल है। धीरेन्द्र ने जब चाय के आग्रह के साथ कहा-

"भैया, आप भोर-भोर समाचार भी दे दिए और अब चाय भी नहीं पी रहे, तो ये कैसे चलेगा?"

सिनुरिया तुरंत सधा हुआ उत्तर दे दिये-

"बौआ, कारोबार शुरू करने से पहले मैं कुछ ऐसा खा-पी लेता हूँ कि बीच में काम के समय भूख या प्यास की परेशानी न हो। इतना फुर्सत कहाँ! सारा गाँव मेरा ग्राहक है, हर दरवाज़े पर रुकना है। एक मन सामान है, उसी में पाँच सौ रुपये की कमाई हो जाती है।"

सिनुरिया की बात सुनकर धीरेन्द्र के मन में गहरी श्रद्धा जागी। क्या कर्मशील व्यक्ति हैं! पंद्रह हज़ार रुपये महीना की कमाई, वह भी अपने श्रम और लगन से। ऐसा आदमी समय देने लायक ही है। धीरेन्द्र बोले-

"भैया, लहसुन की थोड़ी ज़रूरत है। कुछ मसाले भी लेने हैं और आज लहसुन की रोपाई भी करनी है।"

जैसे धीरेन्द्र ग्राहक बनकर काम को आगे बढ़ा रहे थे, वैसे ही सिनुरिया भी व्यापारी की चौकसी निभा रहे थे। दलान के आगे साइकिल खड़ी करते हुए बोले-

"कनियाँ से पूछ लीजिए, और किसी मसाले की ज़रूरत तो नहीं?"

सिनुरिया का विचार धीरेन्द्र को बहुत भाया। जैसे कहावत है-

'लूट में चरखा नफ़ा', वैसे ही बहाने से पत्नी से थोड़ी बातचीत भी हो गई।

धीरेन्द्र आँगन जाकर बोले-

"मसाले के बर्तन देख लो, किस-किस चीज़ की ज़रूरत है।"

जब दोनों अपने-अपने कार्य में जुट गए, तब एक ही जगह खड़े होकर

विचारों का मिलन कैसे न होता! धीरेन्द्र सहजता से पूछ बैठे-

"भैया, कितने साल से ये कारोबार कर रहे हो?"

सिनुरिया बोले-

"बौआ, ऐसा नहीं कि कोई दस्तावेज बनाकर काम की शुरुआत की थी या मन में ठिक से योजना थी। तब तो हाल ही में विवाह हुआ था। साइकिल ससुराल से मिली थी और चरण स्पर्श करनेवाले रुपए भी हाथ में थे। उस समय महरैल का हाट छूटकर झंझारपुर में लगने लगा था। सब कुछ सस्ता भी था। उसी पूंजी से अब तक पूरे परिवार को हँसाते–खेलाते चला रहा हूँ।"

धीरेन्द्र ने पूछा-

"क्या-क्या चला रहे हैं?"

सिनुरिया मुस्कुराते हुए बोले-

"पाँच बच्चों को पाल-पोसकर उनके-अपने ठिकानों तक पहुँचा दिया। अब कौन-सी पारिवारिक चिंता रह गई है, जिसके लिए यह व्यापार कर रहा हूँ? अब तो बस बना हुआ संबंध निभा रहा हूँ।"

सिनुरिया की बात सुनकर धीरेन्द्र को आश्चर्य हुआ। हैरानी इस बात की थी कि इतने कर्मठ और उद्यमशील व्यक्ति के मुँह से ये शब्द निकलते हैं: "कोई चिंता नहीं..।"

और साथ ही यह भी कह जाते हैं: "बच्चों को ठिकाने पहुँचा दिया।"

धीरेन्द्र ने थोड़ा हँसते हुए टोका-

"भैया, तूने तो इतनी तेजी से सब कुछ कह दिया कि समझ ही नहीं पाया।"

जैसे वकील अदालत में बहस करता है या डॉक्टर ऑपरेशन थियेटर में पूरी एकाग्रता से काम करता है, वैसे ही अपने परिवार की सेवा में जुटे इस जीवन के दस्तावेज को सुनाते हुए सिनुरिया के मन में एक प्रकार का आनंद उमड़ आया। उल्लसित होकर बोले- "धीर बौआ, भगवान ने तीन

बेटियाँ और दो बेटे दिए हैं। इससे हमारा परिवार औरों की तरह एकतरफा नहीं हुआ।"

'एकतरफा परिवार', यह शब्द सुनते ही धीरेन्द्र फिर चौंक उठे। उन्होंने जिज्ञासावश पूछा-

"एकतरफा का क्या मतलब?"

धीरेन्द्र का सवाल सुनकर सिनुरिया के मन में जैसे कोई मीठी गुदगुदी-सी होने लगी। मुस्कुराते हुए बोले-

"बौआ, परिवार में अगर बेटी न हो, तो पत्नी रूठती रहती है। वह कहती है कि कन्यादान जैसे महान धर्म को तो जैसे हमारी किस्मत ने छुआ ही नहीं। और अगर बेटा न हो, तो माँ का क्या कहना, बाप भी रोने लगता है, और पूरा परिवार मातम मनाता है कि वंश का बांस का बीटा ही टूट गया!"

सिनुरिया का जैसा नाम, वैसा ही स्वभाव, हर समय जीवन के रंग में रँगा हुआ, प्राकृतिक मुस्कान से भरा। धीरेन्द्र बीच में टोके बिना न रह सके-

"भैया, असल बात तो तू छोड़ ही गया!"

बनिया जाति के सिनुरिया, बात को सँभालते हुए बोले-

"बौआ, बात भले ही पीछे रह गई हो, पर भूले नहीं हैं। पाँचों बच्चों की ज़िम्मेदारी पूरी कर चुका हूँ। तीनों बेटियाँ ससुराल में खुश हैं और दोनों बेटे बी.ए. करने के बाद शिक्षा-मित्र में नौकरी कर रहे हैं।"

धीरेन्द्र ने पूछा-

"जब बेटे कमाने लगे हैं, तब अब यूँ ही क्यों इस बूढ़े शरीर और पुरानी साइकिल को खपा रहे हो?"

धीरेन्द्र की बात सुनकर सिनुरिया विह्वल हो उठे। बोले-

"बौआ, यही चार-कोसी गाँव ही तो मेरी दुनिया है। जीवन भर इसकी सेवा करते हुए इसी में रमते आए हैं। अब इसे छोड़ना क्या अच्छा लगेगा?"

धीरेन्द्र ने सहज ही पूछा- "क्यों अच्छा नहीं लगेगा?"

सिनुरिया बोले- “जीवन भर समाज को भाई, काका, बाबा, दादी, काकी, भौजी और बच्चा कहकर, उनके सुख-दुख और जीवन की हलचलें देखते-सुनते जीता रहा हूँ। अब यदि उस दुनिया को छोड़ दरवाज़े से बाँध दिया जाए, तो जीवन में रह ही क्या जाएगा?”

बीच में सुजिता आकर बोली-

“मिर्च और हल्दी नहीं है।”

पिछली बातों को विराम देते हुए सिनुरिया बोले- “बौआ, रविवार को रामकृष्ण बाबू घर पर ही रहते हैं।”

धीरेन्द्र ने सिर हिलाया- “हाँ, कई बार बात हुई है। लेकिन नौकरी में तो रविवार की भी छुट्टी नहीं होती, और किसान को, जो खेती करता है और मवेशियों को पालता है, उसे इस सबसे क्या लेना-देना? फिर भी दोनों के बीच रिश्ते को टिकाए रखने के लिए यही एक दिन तो है। रविवार को भेंट करेंगे।”

मिर्च, हल्दी और लहसुन, तीनों सामान के पचास रुपए लेकर सिनुरिया साइकिल टुनटुनाते हुए आगे बढ़ गए।

अंतिम आसीन। कल कोजगरा है। बारिश की घटती रफ्तार के बीच खेती-बाड़ी अभी शुरू नहीं हुई थी, इसलिए धीरेन्द्र का काम भी थोड़ा ढीला पड़ गया था। वैसे भी दुर्गा पूजा से लगभग बीस दिन पहले ही उन्होंने चार मैथिली कहानियाँ रामकृष्ण बाबू को सुधार के लिए दी थीं, यानी उनके मुँह, कान और सींग-सिंगहौटी को दुरुस्त करने के लिए। रामकृष्ण बाबू ने भी वह कार्य दुर्गा पूजा के समय ही स्वीकार किया था। दोपहर के तीन बजे धीरेन्द्र रामकृष्ण बाबू के घर पहुँचे।

रामकृष्ण बाबू पलंग पर बैठे चाय पी रहे थे। धीरेन्द्र को देखते ही उन्होंने हाथ के इशारे से पलंग पर बैठने को कहा। सामने तीन डिक्शनरी, कागज़, कलम और एक डायरी रखी थी। शायद कुछ लिखने का मन बना रहे थे। धीरेन्द्र ने प्रणाम किया और पलंग के नीचे खड़े हो गए।

जातिगत बंधनों से बना जो सामाजिक ढाँचा है, उसमें रामकृष्ण बाबू

और धीरेन्द्र के बीच एक दूरी स्वाभाविक रूप से बन गई थी। वैसे इससे पहले जब भी धीरेन्द्र रामकृष्ण बाबू के पास आते थे, वे दोनों ओसारे की कुर्सी पर बैठकर बातें किया करते थे, लेकिन आज बात पलंग की थी... धीरेन्द्र को पलंग पर बैठते संकोच हो रहा था।

संकोच का कारण जातिगत व्यवहार था। यद्यपि कुर्सियाँ अब सेठ-साहूकारों की गद्दी और महाजनों की बैठक से हटकर कुछ खुली सोच का प्रतीक बनने लगी हैं, फिर भी कहीं न कहीं समाज के कोने में मोथा घास की सीर के पन्ने की तरह पुरानी सोच छिपी हुई है, जो मौका मिलते ही पेड़ बनकर खड़ी हो जाती है।

धीरेन्द्र के खड़े होने पर रामकृष्ण बाबू बोले-

"इस पर बैठने में संकोच क्यों? यह तो बैठने और सोने की ही चीज़ है।"

हालाँकि रामकृष्ण बाबू के मन में भी जातिगत व्यवस्था की पुरानी कथा कहीं न कहीं लहराती थी, लेकिन वे यह भी जानते थे कि समाज को बनाना और बदलना, दोनों का अधिकार समाज के ही पास है। इसी बीच उनकी पत्नी चाय लेकर आईं और बोलीं-

"बैठ कर पी लीजिए।"

कहते हुए चाय का कप पलंग पर रख गईं। दोनों ने बैठकर चाय पी और साहित्य पर बातचीत शुरू हो गई। हथिया नक्षत्र गुजर चुका था, जाड़े की ठिठुरन अब कम होने लगी थी, पर धूप की तीखी गर्मी अब भी बनी हुई थी। घर का पलंग, मौसम और चाय, सब मिलकर मानो एक मीठे शर्बत-सा वातावरण रच रहे थे।

धीरेन्द्र बोले- "सर, आपके जो कहानी-संग्रह हैं, वे सीधे-सीधे शैली में लिखे गए हैं, बहुत ही अच्छे संग्रह हैं। मगर...?"

'अच्छा कहानी-संग्रह' सुनते ही रामकृष्ण बाबू के मन में एक सिहरन-सी दौड़ गई, लेकिन 'मगर' शब्द ने उनके भीतर एक कौंध भी जगा दी। धीरेन्द्र के चुप हो जाने से उनके भीतर प्रश्न उमड़ आया। उन्होंने धीरेन्द्र

की ओर देख कर कहा- “ऐसे आधे में क्यों रुक गए? खुलकर बोलो। यह सृजन है, ना कि संकोच की चीज़। झिझक से तो नुक़सान ही होगा।”

रामकृष्ण बाबू की इस विचारधारा से सहमति पाते हुए धीरेन्द्र बोले-

“सर, आप तो साहित्य के विद्वान और विशेषज्ञ रचनाकार हैं। आपने जिन विषयों को लेकर कथाएँ रची हैं, वही विषय ऐसे रचनाकार भी उठा सकते हैं जिनके पास आपकी जैसी विशेषज्ञता नहीं है।”

धीरेन्द्र के विचार को एक दिशा देते हुए रामकृष्ण बाबू बोले-

“देखो धीरेन्द्र, रचना को मौलिक होना चाहिए। जैसे यह दुनिया है, यह सदा से है और सदा रहेगी। इसमें हर दिन घटनाएँ घटती रहती हैं और आगे भी घटेंगी। लेकिन जो मौलिक है, वही शाश्वत भी है, आज भी और कल भी।”

रामकृष्ण बाबू के इस विचार को सुनते ही धीरेन्द्र के मन में यह विचार कौंधा कि थोड़े शब्दों में उन्होंने बहुत गूढ़ बात कह दी है। लेकिन जब तक हर शब्द एक कड़ी में न जुड़ जाए, तब तक विचारों की झड़ी नहीं झड़ती। इन्हीं कड़ियों को जोड़ने और गुनने में धीरेन्द्र का मन स्थिर हो गया।

वैसे, धीरेन्द्र द्वारा दी गई चारों कथाओं को पढ़कर रामकृष्ण बाबू को यह अनुभूति हो गई थी कि उनके अपने संग्रह का प्रभाव धीरेन्द्र पर उतना नहीं पड़ा, जितना ब्रजकिशोर वर्मा ‘मणिपद्म’, प्रभास कुमार चौधरी, रमानन्द रेणु, राजकमल, प्रेमचन्द, फणीश्वरनाथ रेणु, भीष्म साहनी, राजेन्द्र यादव और राहुल सांकृत्यायन जैसे रचनाकारों की रचनाओं का पड़ा है।

स्वयं को संयत करते हुए रामकृष्ण बाबू बोले- “मणिपद्म तो मिथिला के रत्न हैं, मगर...?”

जिज्ञासा से भरकर धीरेन्द्र ने पूछा- “मगर क्या?”

रामकृष्ण बाबू के मन में मणिपद्मजी के प्रति गहरी श्रद्धा थी। किसी श्रद्धालु द्वारा श्रद्धा से किए गए कार्य की थोड़ी-सी भी ऊर्जा यदि भवन-निर्माण जैसे कार्य में लग जाए, तो चाँद भी और अधिक चमक उठे। पर... बात यहीं आकर ठिठक जाती है।

स्वयं को संयमित करते हुए रामकृष्ण बाबू बोले- “मणिपद्मजी जीवन को एक ही दिशा में रचने वाले व्यक्ति थे।”

यह सुनकर धीरेन्द्र का उत्सुक मन चहक उठा, “कैसे?”

रामकृष्ण बाबू ने मन की गहराइयों में उतरते हुए मणिपद्म जी और प्रभास कुमार चौधरी पर एक दृष्टि डाली। जैसे बरसात के पानी में बुलबुले उठते हैं, कभी उनकी दृष्टि मणिपद्म जी पर टिकती, तो कभी प्रभास जी पर। लेकिन वह निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि बात किस ओर से शुरू करें, मणिपद्म जी से या प्रभास जी से।

धीरेन्द्र की निगाहें लगातार रामकृष्ण बाबू पर टिकी थीं, पर उनका मन उनसे यह कहने को रोक रहा था कि शायद वह किसी गंभीर विचार की उलझन को सुलझा रहे हैं। थोड़ी मुस्कान के साथ रामकृष्ण बाबू बोले-

“मणिपद्म जी एकमुखी रचनाकार थे, जबकि प्रभास जी वैसे नहीं थे।”

रामकृष्ण बाबू का यह गोल-मटोल विचार सुनकर धीरेन्द्र चौंक गए। यह क्या कह दिया उन्होंने? लेकिन तुरंत मन में एक स्वीकारोक्ति भी उठी, जिसने धीरेन्द्र को गहराई से सोचने को विवश कर दिया। सोचते-सोचते वह बोले- “कृपया स्पष्ट करें, दोनों के विषय में खुलकर चर्चा करें।”

धीरेन्द्र की बात रामकृष्ण बाबू को जैसे भा गई। ‘खुलकर कहिए' - इसका आशय धीरेन्द्र के लिए यह था कि चर्चा भाषा और दृष्टिकोण के स्तर पर की जाए। रामकृष्ण बाबू बोले-

“मणिपद्म जी के जीवन का तीन-चौथाई आर्थिक भार, अर्थात् खाने-पीने और अन्य आवश्यक खर्चों का बोझ, हमेशा उनके पिता ही उठाते रहे। लेकिन अब सोचिए, अपनी व्यक्तिगत जीवन-यात्रा में उन्होंने कितनी रचनाएँ प्रकाशित कराईं? और वे कितने लोगों तक पहुँचे?”

यह कहते-कहते रामकृष्ण बाबू गंभीर हो उठे। जैसे उनका अपना जीवन उनकी आँखों के सामने नाचने लगा हो। भीतर ही भीतर विचार की यह लहर दौड़ पड़ी कि उन्होंने भी दो कथा-संग्रह और एक कविता-संग्रह

लिखकर रखे हैं, जबकि उनकी तो एक अच्छी-खासी नौकरी रही है। इस विचार को आगे बढ़ाना उन्होंने उचित नहीं समझा।

बात का रुख मोड़ते हुए वे बोले-

"धीरेन्द्र, रचना और रचनाकार, ये दो अलग ध्रुव हैं। इन दोनों के बीच न जाने कितनी दशाएँ और दिशाएँ होती हैं। लेकिन यदि रचनाकार खुद अपने अनुभवों से कुछ रचता है, और उससे भी आगे बढ़कर यदि वह शब्दों के साथ रचना करता है, तब भी उसमें कुछ न कुछ अधूरापन अवश्य रह जाता है।"

धीरेन्द्र थोड़े उलझे और बोले-

"सर, पूरी बात स्पष्ट नहीं हो पाई।"

रामकृष्ण बाबू समझाते हुए बोले-

"सत्य वहीं अखंड होता है जहाँ शब्द नहीं पहुँच पाते। लेकिन रचना के लिए तो शब्द ही संगिनी होते हैं। यदि शब्द न हों, तो विचारों की यात्रा कैसे आगे बढ़ेगी?"

सूरज अस्त हो चुका था, लेकिन अंधकार पूरी तरह नहीं फैला था। जाड़े की हल्की ठिठुरन अब धीरे-धीरे अंगुलियाँ खोलने लगी थी।

धीरेन्द्र ने कहा-

"सर, आज की जो बातचीत हुई, वह अविस्मरणीय रहेगी। समय मिला तो किसी दिन फिर आऊँगा।"

धीरेन्द्र उठ खड़े हुए। रामकृष्ण बाबू ने एक बार फिर चाय पीने का आग्रह किया, लेकिन चाह को टालते हुए धीरेन्द्र बोले-

"सर, अगर चाय में उलझ गए तो अँधेरे में भटक जाएँगे।"

जैसे ही धीरेन्द्र ने रामपुर की सीमा लांघी, उनके मन में एक भाव उमड़ आया। करीब दस वर्षों से रामकृष्ण बाबू से संबंध है, आना-जाना बना रहा है, पर उस संबंध में जो आत्मीयता, जो गहराई आनी चाहिए थी, वह क्यों नहीं आ पाई? मन ठहर गया। ठहर गया इस सोच में कि यदि संबंध में

गहराई नहीं है, तो अवश्य ही उसकी दिशा में कहीं कोई कमी रह गई है। वह कमी क्या है? हालाँकि कृष्णपुर के कार्यक्रम के बाद तीन अन्य कार्यक्रमों में दोनों साथ-साथ उपस्थित रहे, फिर भी आपसी संवाद और संपर्क में एक तरह की एकतरफ़ीयता बनी रही।

धीरेन्द्र को लगता है कि रामकृष्ण बाबू के पास साधनों की कोई कमी नहीं है। दूरी तो बस गाँवों की है, या फिर कुछ भीतरी मानसिक सीमाओं की। संबंधों में प्रगाढ़ता लाने के लिए दोनों ओर से संवाद और आवा-जाही ज़रूरी है। जब तक यह नियमित न हो, संबंधों में आत्मीयता नहीं आ सकती।

यह सही है कि रामकृष्ण बाबू कॉलेज में कार्यरत हैं, इसलिए समय का अभाव भी हो सकता है। मगर यह तो गाँव और घर की बात है। ❑

9 'ख'

☰

सेवानिवृत्ति के तीन साल बाद रामकृष्ण बाबू और धीरेन्द्र की मुलाक़ात एक संयोग के रूप में हुई। नवान पर्व के लिए आवश्यक सामान खरीदने के उद्देश्य से रामकृष्ण बाबू अपनी पत्नी सुभद्रा के साथ झंझारपुर हाट आए थे। उसी समय धीरेन्द्र भी गेहूं के बीज खरीदने वहाँ पहुँचे थे। एक तरकारी की दुकान पर, जहाँ रामकृष्ण बाबू साग और कद्दू खरीद रहे थे, धीरेन्द्र भी पास ही खड़े थे। वह थोड़ी दूरी पर चुपचाप खड़े थे, लेकिन यह संकोच के कारण नहीं था, बल्कि इसलिए कि उन्हें लगा कि इस भारी भीड़ में यदि दोनों एक-दूसरे से बिछड़ गए तो दोबारा मिलना मुश्किल हो जाएगा। उन्होंने सोचा कि जैसे ही वे लोग सब्ज़ी लेकर मुड़ेंगे, वह सामने आकर प्रणाम करेंगे।

कुछ देर बाद रामकृष्ण बाबू साग और कद्दू की थैली हाथ में लिए सुभद्रा के पीछे-पीछे दुकान से बाहर निकले।

धीरेन्द्र की दृष्टि उनके थैले में झाँकते साग और कद्दू पर टिक गई। उनके मन में एक विचार कौंधा कि शायद यह सेवा-निवृत्ति के बाद की विषमता ही है। अब वह उम्र नहीं रही जब दोनों साथ बाजार जाया करते थे। लेकिन क्या किया जाए? या तो टहलना ही छोड़ दें, या फिर कोई न कोई बहाना बनाकर बाहर निकलें। फिर सोचा कि बेहतर होगा भीड़भाड़ वाले कामों से बचकर किसी एकांत कार्य को चुना जाए। लेकिन साग-कद्दू? आजकल तो ये भी सस्ती वस्तुएँ नहीं रहीं। भले ही उनके कुल-खानदान की प्रतिष्ठा अब भी बनी हुई हो या वे संस्कार जीवित हों, परंतु अब की मंडी में साग-कद्दू भी विलासिता की वस्तु बन चुके हैं।

धीरेन्द्र को यह भी ज्ञात नहीं था कि अगला दिन नवान का पर्व है। शायद उसी की तैयारी में वे दोनों व्यस्त थे।

दुकान से निकलते ही धीरेन्द्र ने उन्हें टोका-

"प्रणाम, सर...।"

धीरेन्द्र की आवाज़ सुनते ही रामकृष्ण बाबू की दृष्टि उनकी ओर गई। उन्होंने बिना प्रणाम का उत्तर दिए ही कहा-

"कल नेवान है न, उसी की तैयारी में लगे हैं।"

हाट की भीड़ अपने ही ढंग से चल रही थी। कोई इधर-उधर जा रहा था, कोई खरीदारी में व्यस्त था। ऐसे में प्रणाम-पाती को कौन सुने। लेकिन धीरेन्द्र ने मुस्कुराते हुए एक हल्का-सा व्यंग्य कर दिया-

"सर, आज के ज़माने में जो नवान मनाता है, वह तो जैसे पुराने युग का कोई अवशेष बन गया है।"

'नव' और 'पुराना' -इन दोनों युगों की टकराहट रामकृष्ण बाबू के मन में लहर की तरह उठी। उनके भीतर यह विचार कौंधा कि धीरेन्द्र ने ऐसा क्यों कहा? और अगर कोई साधारण आदमी यह कहता, तो समझ में आता। जैसे आकाश में कौवा या चील बेवजह चिल्लाते हैं। लेकिन धीरेन्द्र?

जिज्ञासावश रामकृष्ण बाबू ने पूछा-

"ऐसा क्यों, धीरेन्द्र? भरे बाजार में ऐसी बात क्यों कह रहे हो?"

रामकृष्ण बाबू की जिज्ञासा को देखकर धीरेन्द्र जैसे भावनाओं की लय में बह निकले। उन्होंने कहा-

"सर, आज के युग में जो कोई दुरागमन करता है या नवान मनाता है, वह दोनों ही युगों से बाहर हो गया प्रतीत होता है।"

धीरेन्द्र की यह बात रामकृष्ण बाबू और उनकी पत्नी दोनों को भीतर तक चुभ गई। लेकिन सार्वजनिक स्थान पर प्रतिक्रिया देना शोभनीय नहीं होता, इसलिए स्वयं को संयत करते हुए रामकृष्ण बाबू बोले-

"क्या एक ही लकड़ी से दोनों ताल बजाते हो?"

उनके इस वाक्य में कहीं न कहीं सहमति और असहमति का मिश्रित भाव था। धीरेन्द्र ने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा-

"सर, आज जो कोई दुरागमन करता है, वह वास्तव में दुरागमन नहीं, बल्कि सिर्फ माल-जाल का समायोजन कर रहा होता है।"

रामकृष्ण बाबू इस पर कुछ कहने ही वाले थे कि सुभद्रा बीच में बोल उठीं-

"क्या कह रहे हो? साफ-साफ बताओ।"

धीरेन्द्र की बातों की धार देखते हुए रामकृष्ण बाबू के भीतर उठती खिन्नता क्षण भर को थम गई। वे ध्यान से धीरेन्द्र की बात सुनने लगे। धीरेन्द्र ने आगे कहा- "जहाँ की स्थान की भूमि सदा अन्नदायिनी रही है। वहाँ नवान की क्या आवश्यकता है? और फिर, क्या हर नए अन्न के लिए नवान मनाया जाएगा? जो अन्न बारहों महीने उगते हैं, उनके लिए नया क्या है?"

धीरेन्द्र की यह बात सुनकर सुभद्रा सिर हिलाते हुए बोलीं- "बिलकुल ठीक कहा। फिर...?"

सुभद्रा के "फिर...।" कहने पर धीरेन्द्र ने उत्तर दिया- "चाची, अब तो सारे काम जल्दबाज़ी में ही होते हैं। आप ही बताइए, बर और कन्या के बीच दुरागमन होता है, यह तो परंपरा है। लेकिन विवाह और दुरागमन के बीच यदि बच्चे भी आ जाएँ, तो फिर उस दुरागमन का क्या अर्थ रह जाता है?"

बातों का सिलसिला चलता रहा और तीनों चाह पीने के लिए बगल की दुकान पर पहुँच गए।

चाय की यह दुकान भले ही बांस-टाट से बनी थी, लेकिन इसका रसूख आसपास की पक्की दुकानों से कहीं अधिक था। यह सड़क के किनारे थी, और दुकानदार ने अपनी जमीन के साथ-साथ सड़क की भी अच्छी-खासी जगह घेर ली थी। हाट लगने वाले दिन यह दुकान समस्तीपुर से लेकर जयनगर-निर्मली तक के व्यापारियों की बैठक का स्थान बन जाती थी। लाखों के सौदे यहीं बैठकर तय होते थे।

लेकिन इस दुकान की सफलता का कारण उसका फैलाव नहीं, बल्कि अछेलाल नामक दुकानदार का हाथ था। जैसे नया लुहार पुराने औज़ारों से बेहतर काम करता है, वैसे ही अछेलाल की बनाई चाय अपने स्वाद में बेमिसाल थी। इस पूरे इलाके में अछेलाल जैसा कोई दूसरा नहीं था।

तीनों लोग पूरब की ओर खाली पड़ी एक टेबल-कुर्सी पर बैठ गए। धीरेन्द्र ने अछेलाल को आवाज़ देकर चाय लाने को कहा। चाय की दुकान पर रंग-बिरंगे इलाकों के रंग-बिरंगे लोग जमे थे। धीरेन्द्र के मन में आया कि ऐसे माहौल में पारिवारिक बातें करना ठीक नहीं। अपनी दुख-कथा भी तभी सुनाई जाती है जब सुनने वाला उसका स्वाद समझे। उधर, रामकृष्ण बाबू ने भी अपनी पारखी नज़र से वातावरण का मुआयना किया। देखा कि सभी टेबलों पर लोग अपनी-अपनी बातों में मग्न थे। रामकृष्ण बाबू बोले-

"अच्छा हुआ, आज भेंट हो गई, धीरेन्द्र। अभी तो चाय की दुकान पर हैं, ऐसे में अन्य बातें करना ठीक नहीं। कल घर पर आ जाना। बहुत दिनों से बैठकर बात नहीं हुई है, सब कुछ विस्तार से कहूँगा।"

धीरेन्द्र मन-ही-मन हिसाब लगाने लगा, आज का दिन तो हाट-बाजार में ही निकल गया। कल गेहूँ की बुआई भी करनी है और खेत की कियारिया भी बनानी है। वह यही सोच रहा था कि रामकृष्ण बाबू बोले-

"पोते को अमेरिका में बेटी हुई है, और अब वह वहीं का नागरिक बन गया है। अगले महीने मुंडन के लिए गाँव आ रहा है। उसी की तैयारी में लगा हूँ। जैसे ही दिन तय होगा, आमंत्रण पत्र भेज दूँगा।"

धीरेन्द्र अब तक रामकृष्ण बाबू के पहले के विचारों को ठीक से समझ भी नहीं पाया था कि उन्होंने और बातें जोड़ दीं। उसने सोचा, बीज तो आज ही खरीद लिए, कल बुआई कर ही लेनी चाहिए। यही तो गति की परिभाषा है- चलते रहना...। वह इन्हीं विचारों में डूबा था कि रामकृष्ण बाबू ने फिर कहा-

"तीन दिन तो अभी गाँव में ही रहूँगा, लेकिन चौथे दिन निकल

जाऊँगा।”

तीनों ने चाय पी और फिर दुकान से निकलकर अपने-अपने रास्ते चल दिए। झंझारपुर से लौटते समय धीरेन्द्र के मन में यह विचार उठता रहा कि अगला महीना परपोती के मुंडन का है। निश्चित ही रामकृष्ण बाबू का परिवार गाँव आएगा और भोज-भात भी होगा, वह भी पूरे ठाट-बाट के साथ। लेकिन तभी उसके भीतर एक प्रश्न लगातार उठने लगा। जो अब अमेरिका का नागरिक बन चुका है, क्या उसके संस्कार भी अमेरिकी नहीं होने चाहिए?

संस्कारों की भी तो अपनी एक भौगोलिकता होती है, एक सांस्कृतिक स्थिति, एक परिस्थिति। जब कर्म, शिक्षा, संस्कृति और जीवनशैली अपने-अपने क्षेत्र के अनुरूप होती हैं, तभी समाज संगठित रूप से आगे बढ़ता है।

अन्यथा, पुरानी मशीन में नया पुर्जा जोड़ने से मशीन झरझर करने ही लगती है। ❑

9 'ग'

☰

अगहन का एक पखवारा बीत चुका था और नवान पर्व भी सम्पन्न हो चुका था। नहाते समय धीरेन्द्र ने सोच लिया कि खाना खाने के बाद वह रामकृष्ण बाबू के घर जाएगा।

धूप अब सुखद लगने लगी थी। उसमें एक अपनापन और मधुरता आ चुकी थी। खाने के बाद थोड़ा टहलना भी अच्छा ही होता है। व्यर्थ आराम क्यों किया जाए?

वैसे भी आराम कहाँ सबको मयस्सर होता है। कोई अपनी दिनचर्या चौबीस घंटे के चक्र में समेटता है, कोई तीन दिन के अंतराल में, तो कोई सप्ताह भर के चक्र में, और उसी के अनुसार अपने कार्य-व्यवहार को संचालित करता है।

अगहन महीने की रातें लंबी होती हैं। सोते-सोते शरीर अकड़ने लगता है, मानो वह लकड़ी बन गया हो। ऊपर से रजाई की गर्मी और नीचे से तोशक की, दोनों बराबर। ऐसे में कौन नहीं चाहेगा कि बाध (धान के खेत) में जाकर कुछ देर धूप सेंक ले! यही समय होता है जब लक्ष्मी–अन्न की देवी–के संग खेत से धान घर पहुँचाया जाता है। ...परंतु धीरेन्द्र की दृष्टि खेत की ओर भटक गई और वह अपनी डूबती हुई गेहूँ की खेती की चिंता में डूब गया।

दिसंबर अब लगभग समाप्त होने को था। गेहूँ की बुआई का उपयुक्त समय तो दुर्गा पूजा के बाद ही होता है, यानी अक्टूबर और नवम्बर की सीमा पर। जब तक समय पर जगदम्बा की पूजा न हो, तब तक मुँह खोलकर कुछ माँगना भी व्यर्थ है। चाहे जितना उत्तम बीज बो दो, चाहे जितनी खाद और

कीटनाशक डाल दो, जल की व्यवस्था कर लो, यदि समय पर बुआई नहीं हुई, तो सारी मेहनत घाटे का सौदा ही बन जाती है।

यदि उपज कम हुई, तो लागत भी नहीं निकलती। और अगर समय और पूँजी दोनों डूब जाएँ, तो किसान के लिए यह सीधी-सी हानि ही होती है। फिर भी, गेहूँ की खेती इस गाँव की मुख्य फसल है। किसान जैसे भी हों, पंद्रह जनवरी तक बुआई तो कर ही लेते हैं। उन्हें कौन समझाए कि यदि आश्विन-कातिक में खेत तैयार नहीं हुआ, तो अब देर हो चुकी है।

खाना खाने के बाद धीरेन्द्र रामकृष्ण बाबू के घर जाने की तैयारी में लग गए। पाँच वर्षों के बाद दोनों का आमना-सामना होने वाला था। साढ़े बारह बजे धीरेन्द्र घर से निकले। मौसम सुखा था; धरती कड़ी हो चुकी थी। धान कटने के कारण बाध की पगडंडियाँ अब पूरे गाँव की गलियों-सी बन गई थीं। बरसात तो थी नहीं कि कीचड़ में सड़कें डूब जातीं।

अगहन महीने में खेतों के बीच बनी राहें दिनभर लोगों से भरी रहती हैं। एक ओर वे खेत जिनमें अब भी धान खड़ा है, और दूसरी ओर वे जो कट चुके हैं, इन्हीं के बीच पगडंडियाँ बनी थीं, जैसे किसी गाँव का नक्शा।

एक बजे धीरेन्द्र रामकृष्ण बाबू के घर पहुँचे। घर में केवल पति-पत्नी मौजूद थे। रामकृष्ण बाबू पलंग पर बैठे चाय पीते हुए अपनी पत्नी से हल्की-फुल्की बातचीत कर रहे थे। धीरेन्द्र को आते देखकर वे प्रसन्न हो उठे और पत्नी से बोले-

"देखा, मैंने कहा था न! जाओ, चाय की तैयारी करो।"

वैसे, भोजन के बाद चाय या नाश्ते की आवश्यकता इस पर निर्भर करती है कि भोजन कब किया गया हो। यदि सुबह नौ-दस बजे भोजन हो गया हो, तो बारह-एक बजे टिफिन की ज़रूरत महसूस होती है। लेकिन यदि भोजन बारह-एक बजे ही हुआ हो, तो फिर यह समय नाश्ते का कैसे हुआ?

रामकृष्ण बाबू का वह समय आ ही चुका था। जिस तरह वे झट से बोले थे, उसी अंदाज़ में सुभद्रा भी तंज भरे स्वर में बोलीं- "यदि आपकी

बात मान ली होती, तो मेहमानी जैसी परंपरा का क्या होता?”

थोड़ा मुस्कुराते हुए रामकृष्ण बाबू ने कहा-

"हम दोनों ही छत पर चलें। अब जैसे-जैसे समय ढलेगा, वैसे-वैसे धूप और भी प्रिय लगने लगेगी।”

दोनों छत पर पहुँच गए। वहाँ पहले से ही बिछावन बिछा हुआ था। थोड़ी ही देर में सुभद्रा चाय लेकर ऊपर आ पहुँचीं। सामान्य हालचाल के बाद रामकृष्ण बाबू ने अपने परिवार की लंबी-चौड़ी चर्चा शुरू कर दी- तीनों बेटों, बेटी-दामाद, पोता-पोती, सबकी बात एक ही साँस में कह डाली।

धीरेन्द्र सामने चुपचाप बैठे कुछ बातें सुन रहे थे, कुछ अनसुनी कर रहे थे। ऐसा नहीं कि वे सुनना नहीं चाहते थे, बल्कि इसलिए कि रामकृष्ण बाबू के साथ जो संबंध थे, उनकी एक मर्यादा थी। उस दायरे से बाहर की बातें सुनना उनके लिए विशेष उपयोगी नहीं था।

धीरेन्द्र के मन में एक संशय उठा- क्या रामकृष्ण बाबू की जीवन-दिशा अब पूरी तरह बदल चुकी है? संभवतः ऐसा ही है।

जब किसी व्यक्ति के जीवन में उतार-चढ़ाव आते हैं, तो उसके विचारों में भी वही परिवर्तन झलकने लगते हैं। लेकिन यह परिवर्तन स्वतः नहीं आता- यह जीवन की परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

उदाहरण के लिए, जब तक कोई व्यक्ति शराब नहीं पीता, तब तक वह उसे ‘बुरा’ समझता है। लेकिन एक बार किसी कारणवश वह उसे आज़माता है, तब एक-चम्मच, दो-चम्मच पीना ‘दवा’ कहलाने लगता है। वही शराब, जिसे कभी मन से ‘बुरा’ माना गया था, अब ‘स्वादिष्ट’ और ‘पौष्टिक’ घोषित की जाने लगती है।

और फिर धीरे-धीरे, वह मन भरकर पीने को भी उचित ठहराने लगता है।

धीरेन्द्र ने अपने साहित्यिक विचारों को मन में ही समेटे रखा, क्योंकि रामकृष्ण बाबू बातों में इस कदर मग्न थे कि बीच में कुछ कहने की गुंजाइश

ही नहीं थी। फिर भी बीच में अवसर देखकर धीरेन्द्र ने पूछा- "सर, यह साल कैसा बीत रहा है?"

यह प्रश्न मानो रामकृष्ण बाबू के लिए नया मसाला बन गया। वे बोले-

"केवल यही साल क्यों? जिस दिन से रिटायर हुआ हूँ, उसके तीन महीने बाद से ही बच्चों ने पोता-पोती की पढ़ाई-लिखाई को लेकर ज़ोर पकड़ लिया। बेटा, बेटी, दामाद, सभी अपने-अपने ठिकानों पर व्यस्त हैं। एक जगह से दूसरी जगह दौड़ते-दौड़ते ऐसे साल बीत जाता है कि पता ही नहीं चलता।"

रामकृष्ण बाबू के बदले हुए विचारों को सुनकर धीरेन्द्र सोचने लगे- यह तो स्पष्ट है कि जीवन ने उनकी दिशा ही बदल दी है। जब जीवन स्वयं किसी नए रूप की ओर मुड़ता है, तो विचार, व्यवहार और उद्देश्य, तीनों बदल जाते हैं।

विचारों में लचीलापन आ जाता है, जो कभी भरपाई के लिए, तो कभी समायोजन के लिए होता है। लेकिन लचीलापन ही सब कुछ नहीं होता। वह या तो व्यक्ति को आगे ले जाता है, या फिर पीछे धकेल देता है।

जहाँ एक ओर यह प्रगति का द्वार खोलता है, वहीं दूसरी ओर पतन का मार्ग भी बन जाता है। अब तक रामकृष्ण बाबू लगातार एक ही सुर में अपने परिवार की बातें कहे जा रहे थे। धीरेन्द्र ने कहीं भी न तो अल्पविराम देखा, न पूर्णविराम। आखिरकार उन्होंने टोक ही दिया-

"सर, एक साँस में इतनी बातें कह डालीं कि एक भी बात समझ में नहीं आई।"

वैसे भी धीरेन्द्र के मन में यह था कि जब तक संवाद में कुछ सवाल न उठाए जाएँ, तब तक बात आगे नहीं बढ़ती। वरना यह पूरी बातचीत भाषण बनकर रह जाती।

भाषण और परिचर्चा में यही तो अंतर होता है। परिचर्चा में तर्क-वितर्क के साथ विचार आगे बढ़ता है, जबकि भाषण में सच और झूठ दोनों एक साथ बहते रहते हैं।

हालांकि रामकृष्ण बाबू का बोलने का सिलसिला अच्छी तरह जम चुका था, लेकिन धीरेन्द्र द्वारा पूछे गए सवाल ने उन्हें और भी बोलने का मसाला दे दिया। हाँ, यह भी सच था कि उनके जीवन की धार अब थोड़ी सूखने लगी थी। रामकृष्ण बाबू बोले-

"धीरेन्द्र, भगवान ने इतने पोता-पोती और नाति-नातिन दे दिए हैं कि उनके बीच खेलते ही समय कैसे बीत जाता है, पता ही नहीं चलता।"

रामकृष्ण बाबू की यह बात सुनकर धीरेन्द्र का मन संकल्प और विकल्प के बीच घूमने लगा। पर वह उसे मन से झटकते हुए बोले-

"तो आप बच्चों के साथ बच्चों जैसा जीवन जी रहे हैं!"

धीरेन्द्र की यह बात रामकृष्ण बाबू को व्यंग्य की तरह चुभ गई। लेकिन व्यंग्य, चाहे कितना भी मीठा या सौम्य क्यों न हो, उसका दूसरा पहलू भी होता है। एक ओर स्वर्ण का लंका है, तो दूसरी ओर लंका जैसी तीखी मिर्च भी।

अब कौन किसे कैसे ग्रहण करे, यह तो ग्रहण करने वाले की समझ पर निर्भर करता है। रामकृष्ण बाबू के मन में यह विचार भी उभरा- कोई भीड़ में खेलता है, कोई एकाकी। लेकिन इन दोनों के बीच जो जीवन का असली खिलाड़ी है, वह कैसा होता है?

(यह प्रश्न धीरेन्द्र के लिए भी खुला ही रह गया...)

मगर रामकृष्ण बाबू का मन बातों ही बातों में आगे सरक चुका था। परिवार की चर्चाओं की लहर में बहते हुए वे बोले-

"धीरेन्द्र, तुम्हारे परिवार में सब कुशल-मंगल है न?"

अब धीरेन्द्र की पहचान समाज में एक कथाकार के रूप में बन चुकी थी। हालाँकि रामकृष्ण बाबू उम्र में भी वरिष्ठ थे, डिग्री-डिप्लोमा और अध्ययन में भी कहीं अधिक।

ऐसे में धीरेन्द्र की प्रसिद्धि की खबरें उन तक पहुँची ही होंगी। फिर भी, उन्होंने इन सबका कोई ज़िक्र किए बिना केवल उनके परिवार की बात

पूछी। अपने निजी समाचारों को किनारे करते हुए धीरेन्द्र मुस्कराकर बोले-

“सब कुछ वही पुराना ही है।

हमारे जीवन में भला नया क्या होता! जब मिडिल स्कूल में पढ़ते थे, तब भी बैंगन और मिर्ची बोने की कला थी, और आज भी उसी विद्या के सहारे जी रहे हैं। न वो हमसे छूटी, न हम उससे।”

धीरेन्द्र की यह बात रामकृष्ण बाबू को कुछ खटक गई, जैसे ताज़े घाव पर किसी ने नमक छिड़क दिया हो। मन थोड़ी देर के लिए कांप गया।

कांपा इसलिए कि उन्हें ऐसा लगा, जैसे उनका "अतीत का जीवन" अब "पश्चात जीवन का बोझ" बन गया है।

जीवन की गाड़ी में आगे और पीछे, दो धुरी होते हैं। कभी-कभी ये गाड़ी को आगे खींचते हैं, तो कभी पीछे भी धकेलते हैं। मगर जुआ तो एक ही होता है, जो हमेशा आगे की ओर जुड़ा रहता है। रामकृष्ण बाबू के मन में अब उनका वर्तमान जीवन झिलमिलाने लगा। जितने दिन शिक्षण संस्थानों में रहे, उन्होंने श्रेष्ठ छात्रों को पढ़ाया। और स्वयं भी उच्च स्तर की पढ़ाई की, जिसमें पुस्तकालयों ने सच्चा साथ निभाया। मगर आज? अब तो छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ा रहे हैं, जो मिडिल स्कूल और हाई स्कूल के हैं। क्या यह सब उनके लिए उचित है?

यदि वे अपनी पुरानी शैली में पढ़ाएँगे, जिसकी उन्हें आदत है, तो बच्चे कुछ भी समझ नहीं पाएँगे। और यदि बच्चों के अनुकूल पढ़ाने की कोशिश करेंगे, तो उनकी अपनी मौलिकता समाप्त हो जाएगी। पर समाधान? कोई उपाय नहीं सूझता...। स्थिति को समेटते हुए रामकृष्ण बाबू बोले-

“धीरेन्द्र, कहीं भी रहो, बस मौज-मस्ती से रहो।”

रामकृष्ण बाबू की बात से सहमति जताते हुए धीरेन्द्र बोले-

“सर, चाहे बगीचे की बेल हो, या खेत-खलिहान की लताओं की डार, या फिर जंगली झाड़ियों की बेल हो, या चमेली-जूही की सुरभित बेल, हर कोई अपना परिचय खुद दे देता है।”

धीरेन्द्र की यह बात रामकृष्ण बाबू को जैसे भा गई। वे मुस्कराए और अपनी गर्दन को गोल-गोल घुमाने लगे, जैसे किसी नई अनुभूति में डूब गए हों। तभी बगल में बैठी सुभद्रा टोकती हैं-

"बड़ी देर हो गई चाय पिए हुए। और फिर, इस महीने की चाय तो आपके लिए खास प्रिय होती है...!"

बिछावन से उठते हुए धीरेन्द्र बोले- "खड़े-खड़े ही चाय पी लूँगा। बैठे-बैठे तो देह अकड़ ही गई है...।" ❑

10

बाज़ार का काम निपटाकर जब झंझारपुर से रामपुर की ओर लौटते हुए धीरेन्द्र सीमा पर पहुँचे तो उनकी नज़र अचानक प्रोफेसर रामकृष्ण बाबू पर पड़ गई। उन्हें देखते ही वह सब कुछ भूल गए। वह साइकिल पर सवार थे लेकिन उनकी गति एकदम धीमी हो गई जैसे कोई थका हुआ पशु चल रहा हो। धीरे-धीरे चलते हुए वह प्रोफेसर रामकृष्ण बाबू के घर के पिछवाड़े तक पहुँच गए और वहीं एकाएक रुक गए।

रास्ते में धीरेन्द्र को यह उम्मीद थी कि अगर कोई मिला तो उससे रामकृष्ण बाबू का हालचाल पूछ लेंगे क्योंकि काफी दिनों से मुलाकात नहीं हुई थी। लेकिन आसपास कोई दिखाई नहीं दिया। ऐसे में वह आगे बढ़े और घर के नीचे घराड़ी की ओर नज़र डाली तो उन्हें महसूस हुआ कि जैसे घराड़ी बिना घर के सूनी लगती है वैसे ही घर भी बिना लोगों के खाली लगता है। चहारदीवारी में बने प्रवेश द्वार पर ताला लटका हुआ था।

धीरेन्द्र की यादें ताज़ा होने लगीं। उन्हें कृष्णपुर के सांस्कृतिक कार्यक्रम की बातें याद आईं जहाँ रामकृष्ण बाबू ने कितनी सुंदर बातें कही थीं। लेकिन वे बातें कहनेवाले आज कहाँ हैं? उम्र भी अब नब्बे इक्यानवे के आसपास होगी। ऊपर से संयोग भी अच्छा नहीं रहा, पत्नी अभी जीवित हैं।

इन विचारों के साथ धीरेन्द्र का मन रामकृष्ण बाबू के परिवार की ओर चला गया। बेटा, बहू, बेटी, दामाद, पोता, पोती, नाती और नातिन सब कुछ है इस परिवार में फिर भी जिस घर को रामकृष्ण बाबू ने अपनी मेहनत और कमाई से बनाया था वह आज इतना सुनसान क्यों दिख रहा है?

इसी समय सामने से आते एक आदमी को देखकर धीरेन्द्र ठिठक

गए। पास आते ही उन्होंने पूछा-

"आपका घर इसी गाँव में है?"

वह बोला- "हाँ।"

"नाम क्या है?"

"लोग फोचबा कहते हैं, असली नाम फोंचाइ दास है।"

"रामकृष्ण बाबू को पहचानते हैं?"

फोंचाइ ने कहा-

"क्यों नहीं पहचानूँगा। कितने कामों में उनका साथ दिया है।"

'काम में साथ देने' की बात सुनकर धीरेन्द्र थोड़ा प्रफुल्लित होते हुए बोले-

"अच्छा, तो आप तो क़रीबी हुए। उनकी तबीयत कैसी है?"

धीरेन्द्र की बात सुनकर फोंचाइ दास थोड़ी देर के लिए घबरा गया। घबराहट इसलिए हुई कि प्रतिष्ठित लोगों के बारे में कोई भी बात अगर चुभ जाए तो वह मुँह से निकलनी नहीं चाहिए।

लेकिन तुरंत ही उसने अपने आप को सँभाल लिया। संतुलन बनाते हुए वह बोला-

"मेरा घर उनके घर से थोड़ा हटकर है, इसलिए हर दिन यहाँ आना-जाना नहीं होता। हमारी आन-जान पूरब की ओर ज्यदा है। कभी-कभार इधर आ जाता हूँ, इसलिए सभी बातें सही तरह से पता नहीं चल पातीं।"

फोंचाइ दास की बात धीरेन्द्र को अच्छी लगी। इसलिए अच्छी लगी क्योंकि बेचारा जो भी कह रहा था, सोच-समझकर ही कह रहा था।

बात को आगे बढ़ाते हुए धीरेन्द्र ने पूछा-

"कितने दिनों से मुलाकात नहीं हुई है?"

फोंचाइ दास ने कहा-

"दिन-तारीख तो कभी लिखकर नहीं रखते, पर पिछली बार जब

आए थे, तीन साल पहले, तभी भेंट हुई थी। शरीर में जो ढलान बुढ़ापे में आनी चाहिए, वह तो आ ही गई थी।"

सिर हिलाते हुए धीरेन्द्र के मुँह से निकला-

"उम्र भी तो बहुत हो चली है।"

धीरेन्द्र की बात पर फोंचाइ दास को क्या महसूस हुआ, यह तो वही जाने, लेकिन बात सुनते ही वह बोला- "हाँ, हमारे गाँव में उनके जितनी उम्र का एक भी पेड़-पौधा नहीं है, और आप उम्र की बात कर रहे हैं।"

'पेड़-पौधे' की बात सुनकर धीरेन्द्र चौंक गए कि फोंचाइ दास यह उदाहरण क्यों दे रहा है। लेकिन उसी बात को दोहराकर अब क्या पूछें। पेड़-पौधे तो एक ही जगह अडिग खड़े रहते हैं, और आदमी चिड़िया की तरह पूरी दुनिया में उड़ता-फिरता है।

ओह, शायद आवेश में आकर फोंचाइ दास बोल गया होगा। ऐसा भी तो होता है कि आवेश में कोई बालबोध को ही सूरज-चाँद कह देता है।

लेकिन फोंचाइ दास की बात से धीरेन्द्र उसकी नब्ज के एक तार पर चढ़ गए। चढ़े इसलिए कि उन्हें लगा यह आदमी हवा बाँध सकता है, पर उड़नेवाला नहीं है। भाई कुत्ते की तरह क्यों इंसान के साथ रहता है, और हिरन क्यों पड़ाए हुए घोड़े की तरह होते हैं। तब तो यही होना चाहिए कि हिरन को भी प्रेम से पाला जाए।

जिस तरह वैद्यजी नाड़ी पकड़ते ही रोग समझ कर दवा बता देते हैं, उसी तरह धीरेन्द्र ने भी बात टालते हुए कहा- "अरे भाई, जब तुम कहते हो कि तुम्हारा घर भी इसी गाँव में है, तब क्या तुम्हारे जैसे गँवई लोग कुआँ-तालाब खुदवाएँगे?"

धीरेन्द्र की बात फोंचाइ दास ने जितना समझा हो, जो समझा हो, लेकिन उसके मन में कुछ उलझन आ गई। वह बोला- "भाई साहब, जब आप भी कह रहे हैं कि आपका घर कृष्णपुर में है, तब आप भी कोई अलग नहीं हुए, पड़ोसी ही हुए, इसलिए..."

फोंचाइ दास की बात सुनकर धीरेन्द्र ठिठक गए। ठिठके इसलिए कि

उन्हें लगा इस आदमी के भीतर ईमानदारी पूरी तरह भरी हुई है, इसलिए अगर उसे सही दिशा का एक संकेत दे दिया जाए तो बात आगे बढ़ सकती है। धीरेन्द्र बोले-

"अरे फोंचाइ भाई, गाँव में तुम्हारी कोई इज़्ज़त नहीं है क्या, जो इतनी निरीह तरह से निरीह की बात कर रहे हो?"

फोंचाई दास की नज़र फुलवारी की उस दोभान पर जा पड़ी जहाँ फूलों के साथ-साथ फूलों की डाली से सजी-पुनी पत्तियों-मालाओं की कतारें देवालय पहुँचती थीं। उनका मन पिघलकर एकदम कोमल हो गया। वे बोले-

"भाई सहाएब, क्या आप कोई और हैं कि बोलने में झिझक होगी? आप नहीं समझते क्या कि गरीब आदमी तो घर की मिट्टी की दीवार जैसा होता है।"

बीच में धीरेन्द्र ने उन्हें रोका- "फोंचाई भाई, आप अपने आपको इतना हीन-दीन क्यों समझते हैं? आप भी समाज का हिस्सा हैं। जितना सामर्थ्य है, उसी की अँजली से अर्पित करते चलिए।"

धीरेन्द्र की बात फोंचाइ दास ठीक से समझ नहीं पाया। मन सहम गया, सहमा ही नहीं, बल्कि चिहुँक गया। किसी सवाल को समझकर उसके अनुरूप जवाब दे पाना सहमना है। दूसरा यह कि प्रश्न तो समझ में आ जाए, पर उत्तर न सूझे, वह घबराना है। और तीसरा यह कि न प्रश्न समझ आए, न उत्तर देने की योग्यता हो, वह चिहुँक जाना है।

फोंचाइ दास बोला- "भाई साहब, आज घर में मेहमान की तरह ही भोजन हो।"

धीरेन्द्र बोले- "देखो, समाज में कोई निर्बल या निरीह नहीं होता। समाज स्वयं एक शक्ति है। जब कोई व्यक्ति अपने को समाज से जोड़ता है, तब समाज मजबूत होता है। और जब समाज मजबूत होता है, तब हर व्यक्ति मजबूत होता है।"

धीरेन्द्र की बात सुनकर फोंचाइ दास का मन खुशी से गगन में उड़ने लगा। वह बोला- "भाई साहब, आपने तो अपनी बातें इस तरह कही हैं जैसे

गहना पहनकर कोई रूप निखार लेता है। बात तो अच्छी लगी, पर ज़रा सरल भाषा में कहिए।”

धीरेन्द्र ने कहा-

“देखो, मैं बाहर का हूँ। तुम गाँव के हो, तुम्हें यहीं की जानकारी है, इसलिए मैंने रामकृष्ण बाबू के बारे में पूछा। अगर नहीं जानते तो कोई बात नहीं। हर बात हर किसी को नहीं मालूम होती। अगर तुम्हें जानकारी नहीं है तो किसी और से मुलाकात करा दो, काम अपने आप आगे बढ़ जाएगा।”

फोंचाइ दास के मन की हालत वैसी हो गई जैसे फरिहा का वह पानी जो न खुद गंदा होता है, न किसी गंदी चीज को धोता है। ठीक वैसा ही वह अपने को समाज में समझता था।

आखिर फोंचाइ दास जैसा आदमी, जिसकी तीन जनों की परिवार में दो लोग पूरे घर और दुनिया का बोझ उठाए हुए हैं, वह क्यों पीछे रहे। जब वह सब सँभाल सकता है तो समाज की बातें समझना भी कोई कठिन बात नहीं।

फोंचाइ दास ने कहा-

“भाई साहब, चलिए, आपको राधाचरण काका के घर पहुँचा देता हूँ।”

राधाचरण का घर रामकृष्ण बाबू के घर से थोड़ा ही हटकर था। दस साल पहले वह ‘खोपिया विभाग’ के चतुर्थ श्रेणी पद से सेवा निवृत्त हुए थे। वैसे भी रामकृष्ण बाबू और राधाचरण के बीच कोई जातीय दूरी नहीं थी। दोनों एक ही समुदाय के थे। फर्क केवल पढ़ाई-लिखाई का था। जहाँ रामकृष्ण बाबू एम.ए. और पीएचडी थे, वहीं राधाचरण पहले ही प्रयास में मैट्रिक में असफल हो गए थे।

दूसरे तीसरे साल परीक्षा देने पर पास भी कर सकते थे, लेकिन रिज़ल्ट के तीन चार महीने बाद ही उनकी नौकरी लग गई। नौकरी लगने पर मन ने गवाही दी कि लोग क्या नौकरी के लिए ही नहीं पढ़ते। जब नौकरी मिल ही गई, वह भी ज़िंदगी भर की गारंटी के साथ, तो फिर बेवजह की

पढ़ाई किस लिए।

अगर आगे पढ़ने की चाह होती तो स्कूल, कॉलेज की डिग्री और डिप्लोमा की क्या कमी थी। अपने ही विभाग में तन मन से सेवा करूँ, यही ठीक लगा। छह महीने में नहीं तो साल भर में पदोन्नति मिल ही जाएगी। फिर ज़िंदगी किस चिंता में कटती।

लेकिन जहाँ रामकृष्ण बाबू का परिवार बेटा, बेटी, बहू, दामाद, पोता, पोती और नाती, नातिन से जगमगाता था, वहीं इसके विपरीत था राधाचरण का परिवार। न एक भी संतान और न ही कोई भाई बंधु।

फिर भी जैसे कोई फुलवारी रास्ते से दूर होने पर भी अपनी सुगंध से राहगीर को अपना परिचय दे देती है, वैसे ही विभागीय गुणों से राधाचरण गौरवान्वित हो गए थे। जब एक देश की इंटेलिजेंस दूसरे देश के अपराधियों को पहचान सकती है, तो घर परिवार तो घर के भीतर ही समझ में आ जाता है।

राधाचरण अपनी ज़िंदगी की गाँठें सुलझाते हुए समझ चुके थे कि मनुष्य से पहले परिवार का स्थान आता है। परिवार माता पिता, दादा दादी से लेकर बेटा बेटी, पोता पोती तक फैला होता है। पर इसका भी कौन-सा भरोसा कि सभी का परिवार एक जैसा होगा। किसी का परिवार माता पिता के बिना होता है, किसी का किसी और तरह अधूरा। विश्वास करनेवाले का भरोसा चाहे थोड़ा ही सही, पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि परिवार ज़िंदगी के लिए अनुपयोगी है।

आखिरकार होना यही चाहिए कि जो भी है, उसी में जुड़े रहो। दो प्राणियों के बीच बना छोटा सा परिवार ही राधाचरण की शेष ज़िंदगी का सहारा था, और वह उसी का रास्ता देख रहे थे।

फोंचाइ दास के साथ धीरेन्द्र राधाचरण के घर से विदा हुए। आगे बढ़ते हुए धीरेन्द्र ने फोंचाइ दास से पूछा-

"फोंचाइ भाई, साल में किसी त्योहार का उपवास रखते हो या नहीं?"

धीरेन्द्र का प्रश्न सुनकर फोंचाइ दास ऐसा चौंक गया जैसे किसी ने

अचानक पकड़ लिया हो। तुरंत ही बोला- "हाँ।"

"कौन कौन से त्योहारों में व्रत रखते हो?"

साल में "कौन कौन और कितने व्रत" यह सुनते ही फोंचाइ दास रुक गया। रुक इसलिए गया कि बस शिवरात्रि में शिव का उपवास करता है, और दूसरा तीसरा ठीक से जानता नहीं। तो फिर बेवजह झूठ क्यों बोले।

उसने कहा-

"ऐसे ही अगर साल भर व्रत ही करता रहूँ तो शरीर और हाथ किसी काम को कैसे निभा पाएँगे। इससे अच्छा यह है कि महावीरजी के स्थान पर आठ दिन में एक बार मंगलवार को मंगल गीत गा आता हूँ, और शिवरात्रि में शिव का व्रत भी करता हूँ।"

धीरेन्द्र समझ गए कि खुद को बचाने के लिए फोंचाइ दास ने 'अठबारे' की बात जोड़ दी है।

उन्होंने विषय बदलते हुए पूछा-

"तुमने जो कहा था कि रामकृष्ण बाबू के तुरिया गाँव में पेड़ पौधे भी नहीं हैं, वह क्यों कहा था?"

फोंचाइ दास बोला-

"वह मैंने कोई अपना सोचा विचारा थोड़े कहा। जो लोगों के मुँह से सुनता हूँ वही कह दिया।"

फोंचाइ दास की बात सुनकर धीरेन्द्र को लगा कि यह आदमी बिल्कुल निश्छल और निष्कपट है। मन पिघल गया। उन्होंने कहा-

"फोंचाइ भाई, पेड़ पौधों की अपनी दुनिया होती है और मनुष्य की अपनी। जैसे उनकी दुनिया में एक से बढ़कर एक सुंदर फूल और फल होते हैं, वैसे ही मनुष्य की दुनिया में भी एक से बढ़कर एक लोग होते हैं।"

बात करते करते दोनों राधाचरण के घर के पास पहुँच गए। दोनों पति पत्नी दिनभर का काम समेटकर संध्या की ओरियान में शांत बैठकर सुकून ले रहे थे।

राधाचरण को देखते ही फोंचाइ दास ने कहा- “काका, अतिथि आए लगते हैं।”

अनजान धीरेन्द्र के चेहरे की ओर देखकर राधाचरण ने फोंचाइ दास से कहा-

“जब घर पर ही बैठे हैं तो सूखे न सही, भूने चने ही खा लें। साथ मिलकर रात भी काटी जा सकती है। नहीं पान हो तो पान के डंठल से भी पूजा हो जाती है।”

धीरेन्द्र की ओर नज़र फेरते हुए फोंचाइ दास बोला-

“इनका घर बगल वाले गाँव कृष्णपुर में है।”

‘कृष्णपुर’ सुनते ही राधाचरण बोले-

“धीरेन्द्र को पहचानता हूँ।”

राधाचरण की बात सुनकर धीरेन्द्र अचरज में पड़ गए। वजहें कई थीं, पर दो मुख्य थीं। पहली यह कि रामपुर और कृष्णपुर दोनों सटे हुए गाँव हैं, फिर भी वह राधाचरण को नहीं पहचानते, जबकि राधाचरण उन्हें पहचानते हैं। पर तुरंत ही मन साफ हो गया कि जो लोग गाँव में रहते हैं, या पड़ोसी गाँव के हैं, वही तो मेले ठेले में, हाट बाजार में, खेत खलिहान में आमना सामना करते हैं। और जो गाँव में नहीं रहते, उन्हें पहचानने के लिए कोई अमेरिका, इंग्लैंड नहीं जाएगा।

दूसरी बात यह कि जिस श्रद्धा से राधाचरण ने उन्हें पहचाना, वैसी श्रद्धा का भाव उनके भीतर कहाँ है, यह वे खुद कैसे कहें।

राधाचरण, धीरेन्द्र के उत्तर की प्रतीक्षा करते हुए, मन ही मन उनकी पहचान भी परखने लगे। जैसे जेल के मुहाने पर पहचान पक्की होते ही भीतर रास्ता खुल जाता है, लेकिन बाहर निकलते समय वह पहचान मुँह या कान छोड़कर कहीं और भी पकड़ लेती है। पर पहचान तो तय जगह पर, तय रूप से ही होती है।

राधाचरण के मन में फिर यह बात उठी कि शरीर पर लगे कटे छँटे

निशान या जन्म के दाग को ही लोग पहचान नहीं मानते। किसी के माथे पर कोई पुराना घाव का निशान होता है, पर क्या वह हर किसी में एक जैसा दिखता है? और कई बार घाव का दाग कुछ दिनों में मिटकर बिल्कुल साफ हो जाता है, तब उसकी पहचान कौन करेगा?

राधाचरण का मन आगे बढ़ा। बढ़ते हुए उन्हें लगा कि भाव भंगिमा भी पहचान का आधार हो सकती है। जब आधार हो सकती है, तो ऐसे ही आधार को क्यों न एक स्थायी धारणा बना दिया जाए, जिससे धारक के मन का सिरमौर भाव उभर आए और उसकी धारा भी सहजता से प्रवाहित हो सके।

मन ही मन राधाचरण पानी पानी हो गए। उम्र भर इंटेलिजेंस विभाग में काम किया, लेकिन लोगों के भीतर छिपे पिछड़ेपन की परतों को ठीक से समझ नहीं पाए। कौन कैसा है, किस मिट्टी का बना है, यह नहीं समझ सके। कोई मटियार मिट्टी का है, कोई चकैन मिट्टी का, और कोई बर्फ सी ठंडी, पथरीली मिट्टी का।

फोंचाइ दास अपने मन में ही मगन था। धीरेन्द्र की कुछ बातें, जो अभी अभी उसने सुनी थीं, मीठे विचारों की तरह मन में नाच रही थीं। कभी कभी वह बार बार धीरेन्द्र के चेहरे की ओर देख लेता। पर तुरंत ही उसे यह भी याद आ जाता कि वह राधाचरण काका के घर पर है, और यदि उनकी ओर ध्यान न देगा तो काका मन ही मन बुरा मान सकते हैं। इसलिए फोंचाइ दास एक बार धीरेन्द्र की ओर देखता और दूसरी बार स्वयं का मन ही मन आत्मनिरीक्षण करता रहता।

राधाचरण का दरवाज़ा दस दरवाज़ों की तरह सजकर खुला हुआ था। धीरेन्द्र को कुर्सी पर बैठाते हुए फोंचाइ दास खुद भी पास ही बैठ गया।

फोंचाइ दास से राधाचरण ने कहा-

“फोच, आँगन से ज़रा चाय ले आना।”

‘फोच’ तो फोच ही था, फुचिया सी चंचलता के साथ बोला-

“काकी किस बात की नाराज़ हैं कि दरवाज़े पर नहीं आतीं?”

फोंचाइ दास की बात सुनकर राधाचरण के मन में तिल भर भी खीझ नहीं आई। आती भी क्यों। जैसा मन होता है, वैसा ही धन दौलत और घर परिवार का ढर्रा होता है।

राधाचरण किस बात को नहीं समझते। पढ़े लिखे लोग स्त्री को कितने ही नाम और रूपों में पहचानते होंगे, पर फोंचाइ दास जैसे सीधे आदमी के लिए स्त्री का मतलब बस घरवाली ही होता है। वही घर की मालिकिन, वही दरवाज़े और आँगन की मर्यादा की रखवाली करने वाली। जब वही घरेलू रीति की रखवाली करती है, तभी घर सच में घर बनता है।

लेकिन 'मुदा' नहीं, फोंचाइ दास को समझाते हुए राधाचरण बोले-

"बौआ, गाँव घर के लोग जहाँ काकी को पहचानते हैं, वहाँ तक आने जाने में कोई झिझक नहीं होती। पर अनजान जगह पर चले जाने में मन थोड़ी देर ठिठक ही जाता है। तुम भी कौन पराए हो कि आँगन घर में आने से कोई तुम्हें रोकेगा।"

राधाचरण की बात सुनकर फोंचाइ दास के मन ने मान लिया कि काका ठीक ही कह रहे हैं। अनजान तो अनजान ही होता है, और अनभुआर जगह तो आखिर अनभुआर ही होती है।

फोंचाइ दास चाय लाने आँगन की ओर गया। इधर एकांत देखकर धीरेन्द्र बोले- "हम ही धीरेन्द्र हूँ, भाई साहब।"

'हम ही धीरेन्द्र हूँ' सुनकर राधाचरण चौंक उठे और बोले- "धन्य है वह धरती और धन्य है वह समाज, जो आप जैसे सृजनकर्ता को जन्म देता है। और धन्य वह मिट्टी भी जहाँ आपके जैसे लोग पदार्पण करते हैं।"

इतने में फोंचाइ दास चाय लेकर आ गया। तीनों ने चाय पी। चाय खत्म होते ही राधाचरण ने फोंचाइ दास से कहा- "काकी से कह देना कि धीरेन्द्र कोई पराए नहीं, पड़ोसी ही हैं, वह भी आ जाएँ।"

सूरज की किरण डूब चुकी थी, पर पूरी अँधियारी अभी नहीं उतरी थी। रामपुर और कृष्णपुर के बीच का रास्ता धीरेन्द्र को रोज ही का देखा सुना था, इसलिए रात के नौ बजने तक की यह देर उन्हें देर नहीं लग रही

थी।

इतने में एक दो नहीं, चार पाँच लोग और भी दरवाज़े पर आ गए। पर सबकी निगाह तिरछी होकर धीरेन्द्र पर ही टिक गई। अनजान चेहरे को देखकर लोगों ने यह समझा कि पहले उसके विचार जान लेना ही ठीक है।

राधाचरण मन ही मन सोच रहे थे कि धीरेन्द्र क्यों आए हैं। बात तो वही खुद बताएँगे। दरवाज़े पर मेहमान खड़ा हो, ऐसे में सीधे पूछ भी कैसे लें कि क्यों आए हैं।

तभी धीरेन्द्र बोले- "भाई साहब, कुछ काम से आया हूँ।"

यह सुनकर राधाचरण की आँख और कान दोनों चौकन्ने हो गए, पर बोले कुछ नहीं। मन में लहर उठी कि काम तो काम ही होता है। कहीं चीज़ का लेन देन होता है, कहीं विचारों का लेन देन, और कहीं संबंधों का लेन देन। अगर किसी वस्तु का लेन देन हो और कीमत की गुंजाइश न हो, तब भी जो उचित हो, दिया जा सकता है।

लेकिन यदि कोई विचार ऐसा हो जो समझ से अलग हो, वहाँ कैसे दिया जाएगा?

कोई अपराध करने के बाद अपनी रक्षा के लिए वकील के पास जाता है, और कोई अपने ऊपर हुए अपराध के बचाव के लिए जाता है। दोनों अपनी गुहार लगाने जाते हैं, पर क्या दोनों की गुहार एक ही प्रकार की फूल मालाओं जैसी होती है? बिल्कुल नहीं। दोनों की पीड़ा अलग है, दोनों की ज़रूरत अलग है, इसलिए उनकी पुकार भी अलग ही होती है।

लेकिन राधाचरण बिना कुछ बोले वैसे ही खड़े रहे, जैसे कोई अपने दरवाज़े पर दोनों हाथ फैलाकर अतिथि का स्वागत करता है। उनकी दोनों आँखें मानो यही कह रही थीं कि मुँह खोलो, जो कहना है कहो, सुनने को तैयार हूँ।

धीरेन्द्र ने अपने विचारों को समेटते हुए कहा- "कोई बहुत बड़ा काम नहीं है, पर इतना तो है ही कि रामकृष्ण बाबू से जो संबंध बना है, वह कैसे जीवित रहे, इसके लिए अपनी ओर से..."

'अपनी ओर से' सुनते ही राधाचरण सन्न से हो गए। सन्न यह सोचकर कि जैसे कानून के हजार रूप होते हैं, जैसे डॉक्टर, वैद्य हजार तरह के दर्द पहचानते हैं, और जैसे करिंदे हजार रंग के कामों की समझ रखते हैं, वैसे ही मन को उस जगह तैयार रखना होता है जहाँ आवश्यकता पड़ने वाली है।

बरसात के लटके हुए काले बादल की तरह राधाचरण की नज़र धीरेन्द्र के आकाश में टपकने लगी।

राधाचरण बोले- "कहिए, किस बात में रोके हैं। जो संभव होगा वह होगा, जो असंभव होगा वह असंभव रहेगा, यही न?"

धीरेन्द्र बोले- "रामकृष्ण बाबू की अब की ज़िंदगी ठीक नहीं चल रही है, यह समझना है।"

धीरेन्द्र की बात सुनकर राधाचरण के मन में वही अनुभवी कारीगर जाग उठा, जो अपने हुनर में पूरी तरह निपुण होता है।

वे बोले- "ज़िंदगी भर मेरी नौकरी ही यही रही है कि दूसरों की खोज भाँज करता रहूँ। बीस दिन की छुट्टी में हर साल गाँव आता था, और उसी में पूरे साल का समाज अध्ययन भी पूरा कर लेता था। इतना कि समाज का कोई हिस्सा ऐसा न रहे जिसे बीस दिन में समझा न जा सके। इसलिए रामकृष्ण बाबू के जन्म से लेकर आज तक की सारी बातों का पता लग जाएगा। कल ही इसी समय उनका बड़ा बेटा मोबाइल पर बात कर रहा था, उसी से सुना हूँ।"

ताज़े समाचार की यह चर्चा सुनकर धीरेन्द्र का मन भीतर तक काँप गया।

मन की इसी हलचल में वे बोले- "उम्र भी तो बहुत हो चली है। अस्सी नब्बे के ऊपर ही होंगे। अस्सी से ऊपर वही जी पाता है जो अच्छी खासी कठोर देह का होता है।"

वैसे, एक सीआईडी की दृष्टि से राधाचरण धीरेन्द्र को जिस रूप में पहचान रहे थे, उसी रूप में धीरेन्द्र की कही बात भी सही बैठ रही थी।

लेकिन किसी प्रश्न को दोहराना उन्हें ज़रूरी नहीं लगा। आदमी जो स्वयं समझ लेता है, वही उसका मालिक होता है। दुनिया बहुत बड़ी है, बड़े बड़े लोग भी हो चुके हैं। अगर उनके उत्तर से धीरेन्द्र को संतोष मिल जाए तो अच्छी बात है, और अगर न मिले, तो रामकृष्ण बाबू अभी जीवित ही हैं, जाकर आमने सामने बात कर आएँगे।

राधाचरण बोले-

"धीरेन्द्र बाबू, आप समाज के काम करने वाले लोगों में हैं। आप ही क्यों, हम भी हैं, सब हैं। समाज कैसे उठकर खड़ा होगा और कैसे फल फूल पाएगा, यह सबकी ज़िम्मेदारी होती है। अब तो शाम भी ढल चुकी। धीरे धीरे अँधेरा फैलता जाएगा। आप अपने ही पैरों पर नहीं, किसी और के भरोसे आए हैं, ऊपर से साइकिल पर हैं, इसलिए ज़्यादा देर तक रोकूँ यह भी ठीक नहीं।

लेकिन मन में एक बात बार बार उठ रही है कि जैसे प्रेम के पहले दिन प्रेमी प्रेमिका के मन में जो कोमलता जागती है, उसी तरह शुरू में जो स्नेह उमगता है, वह जीवन भर की तमाम कड़वाहियों और दुख तकलीफ़ों को जैसे पीसकर मीठा रस बना देता है।"

राधाचरण की बात सुनकर धीरेन्द्र अपने मन को समझाने लगे,

"अरे मन, धैर्य पकड़ और धीरज की चौखट पर बैठ जा।"

न राधाचरण ऐसी किसी उतावली में बात कर रहे थे कि उनके दिल की बात समझने में गलती हो जाए, और न ही खुद के भीतर कोई हड़बड़ी थी। फिर आज ही हर बात समझ लेना जरूरी भी कहाँ है। जरूरी तो इतना ही है कि जो बात समझ में आनी चाहिए, वही समझ में आ जाए।

मन को स्थिर करते हुए धीरेन्द्र ने राधाचरण से कहा-

"भाई साहब, जितनी जानने की उत्सुकता है, उतना अभी समझ पाना शायद संभव नहीं है। इसलिए आज जो समझ में आया, उतना ही आज की जिंदगी का संबंध माना जाए। कल रहेंगे या नहीं रहेंगे, और रहेंगे तो कौन रहेगा, इसका कोई भरोसा है?"

धीरेन्द्र की बात पर राधाचरण ने सिर हिलाकर सहमति जताई।

सहमति तो दे दी, पर उसी क्षण उनका मन रामकृष्ण बाबू की जिंदगी के हर घाट घाट पर दौड़ने लगा...।

घाट वही दिखाता है जहाँ से जीवन अपनी राह पकड़ता है। और राह वही बताती है जहाँ जीवन मुड़ता है। जिस मोड़ से जीवन घूमता है, उसका मुँह चाहे जिस दिशा में हो, वह या तो अच्छे की ओर ले जा सकता है या बुरे की ओर।

इसलिए ठीक होगा कि रामकृष्ण बाबू की नौकरी से पहले की जिंदगी और नौकरी के बाद की जिंदगी के बीच जो घाट पड़ा है, पहले उसी को समझ लिया जाए और पीछे की बातों को छोड़कर आगे की बात कही जाए।

लेकिन उससे भी पहले कल की बातचीत, जो उनके बड़े बेटे से हुई थी, वही बता देना ज़्यादा सही रहेगा।

ज़्यादा सही इसलिए कि जब आगे की ओर बढ़ेंगे तो पीछे की बातें खुद ब खुद सामने आती जाएँगी। इससे किसी तरह का संदेह रह नहीं जाएगा। यही आदत ज़िंदगी भर रही। अगर संदेह का समाधान न हो तो वही संदेह भीतर सड़ता रहता है और जीवन की मजबूती को अंदर ही अंदर खोखला कर देता है।

राधाचरण बोले-

"धीरू बाबू, मनुष्य की ज़िंदगी ऐसी उलझी हुई है कि जितना उसे सीधा करने की कोशिश करेंगे, उतनी ही वह और उलझती जाएगी।"

आगे कहने के लिए राधाचरण का मुँह खुला ही था कि बीच में धीरेन्द्र पूछ बैठे,

"वह कैसे?"

धीरेन्द्र का प्रश्न सुनकर राधाचरण के मन में तनिक भी खटक नहीं हुई कि बीच में बात क्यों काटी गई। इसके उलट उनके भीतर खुशी की हल्की लहर उठी।

खुशी इसलिए कि शुरू से ही धीरेन्द्र की सोच उसी बात पर टिक गई

थी जो मूल बात थी।

राधाचरण बोले- "धीरू बाबू, जो प्रश्न आप समझना चाहते हैं, वह समय के हिसाब से थोड़ा बड़ा है, यानी अभी जितनी शाम बची है, उसके लिए वह प्रश्न कुछ लंबा पड़ेगा। इसलिए उसे पटुआ की तरह मोड़कर संक्षेप में कहूँगा। कहीं कोई संदेह या खरोंच लगे, तो उसे सँभालकर अगले दिन के लिए रख लेंगे। अभी मूल प्रश्न का उत्तर सुन लें।"

राधाचरण की बात धीरेन्द्र को अच्छी लगी। धीरेन्द्र बोले- "अगर हम दोनों का संबंध कुछ दिन पहले बना होता, तो रामकृष्ण बाबू और मेरे बीच जो खाली समय रहा है, उसकी भरपाई धीरे धीरे होती रहती। पर अब क्या उपाय।"

धीरेन्द्र की कही बात को समझकर राधाचरण भी मन ही मन मान गए कि पहले कल की बात बता देना ही ठीक रहेगा।

वे बोले- "कल रामकृष्ण बाबू के बड़े बेटे से जो बात हुई थी, वह पहले बता देता हूँ। यह अभी की नहीं, थोड़ी पहले की बात है। जब पूछा- तो उसने कहा कि अभी वे अचेत अवस्था में हैं। आँखें बंद हैं, लेकिन साँस चल रही है।"

बीच में धीरेन्द्र ने पूछा- "खाना पीना बंद है क्या?"

राधाचरण ने कहा- "सब बंद है।"

धीरेन्द्र बोले- "लंबी उम्र की ज़िंदगी रामकृष्ण बाबू ने बिताई है।"

धीरेन्द्र के मुँह से 'लंबी ज़िंदगी' सुनकर राधाचरण का मन थोड़ा सा चौंक गया। चौंकते ही बोले- "उनकी ज़िंदगी को समझने के लिए यह भी देखना पड़ेगा कि उन्होंने कैसा संकल्प लिया और किस तरह उसके विकल्पों को पकड़कर चले।"

राधाचरण की बात धीरेन्द्र पूरी तरह समझ नहीं पाए। उन्होंने उत्सुक नज़र से राधाचरण की ओर देखा।

राधाचरण समझ गए कि शायद धीरेन्द्र ठीक से नहीं समझ पाए।

वे बोले- "धीरू बाबू, शरीर को अधिक बरसों तक खड़ा रख लेना

एक बात है, पर ज़िंदगी को खड़ा रख लेना बिल्कुल दूसरी बात है।"

बात में उलझन देखकर धीरेन्द्र बोले- "यह कैसे?"

धीरेन्द्र की बात को थामते हुए राधाचरण बोले- "दुनिया में सात अरब लोग हैं। अगर हर किसी की एक एक कहानी देखेंगे तो सात अरब कहानियाँ हुईं। अगर यह मानें कि एक एक व्यक्ति की सैकड़ों कहानियाँ होती हैं, तो गिनती कहाँ जाएगी। और अगर दो दो कहानियाँ ही सुनें तो चौदह अरब हो गईं। पर यह सब छोड़िए। एक ही बात समझ लीजिए कि संकल्पित ज़िंदगी जी लेना आसान नहीं है।

सेवानिवृत्ति के बाद शेष जीवन का नक्शा जब उन्होंने बनाया, तब पढ़ने लिखने का भी विचार था, पर वह उसे निभा नहीं पाए।"

तीसरी शाम ढल चुकी थी।

जैसे रात के तीन बजे और भोर के तीन बजे में कोई सीमा नहीं होती, वैसे ही तीसरी शाम और दूसरी रात के बीच भी कोई स्पष्ट रेखा नहीं होती।

दरवाज़े से उठते हुए धीरेन्द्र बोले-

"एक दरवाज़े का उसार खत्म हुआ तो दूसरे का बैसार शुरू हो गया। आगे की बात आगे होती रहेगी।"

❑❑❑
❑❑
❑

Notes

टैगोर लिटरेचर अवॉर्ड एवं साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित लेखक का श्रेष्ठ उपन्यास

शेष जीवन

जगदीश प्रसाद मण्डल

अनुवाद

लाल देव कामत